सरलता धारण करने से और अपराध को अपराध मानने से कितना लाभ होता है, इस बात के अनेक उदाहरण शास्त्र में तथा इतिहास में लिखे है। सती चन्दनबाला और मृगावती का उदाहरण बहुत ही बोधप्रद है।

सती चन्दनबाला महान् सती मानी जाती है। वह समस्त सतियों में महती सती थी। इसी प्रकार मृगावती भी बडी सती मानी गई है। इन दोनो सतियो मे पारस्परिक प्रेम-संबंध भी खूब घना था। फिर भी एक दिन, अनजान में जब सती मृगावती अकाल में स्थान से बाहर रह गईं तो सती-शिरोमणि चन्दनबाला ने उनसे कहा—'आप सरीखी बड़ी सती को अकाल में बाहर रहना शोभा नहीं देता।' इस प्रकार चन्दनबाला ने मृगावती को मीठा उपालम्भ दिया। मृगावती सोचने लगीं—'आज मुझे उपालम्भ सहना पड़ा!' यद्यपि मृगावती कह सकती थी कि मैं जान-बूझकर बाहर नहीं रही। मगर उनमे ऐसा विनय था, ऐसी नम्रता थी कि वह ऐसा कह नहीं सकी। वह विनयपूर्वक खड़ी रहकर विचार करने लगी—'मुझ में कितना अज्ञान है कि मेरे कारण मेरी गुराणीजी को इतना कष्ट हुआ। मेरी अपूर्णता और मेरे अज्ञान के कारण ही यह हुआ है। मुझ में अपूर्णता न होती तो यह प्रसंग ही क्यों उपस्थित होता?'

इस प्रकार अपने अज्ञान का विचार करते-करते सारे संसार का विचार कर डाला कि अज्ञान ने क्या-क्या अनर्थ नहीं किये हैं? अज्ञान ने मुझे संसार में इतना घुमाया है। इस प्रकार अज्ञान की निन्दा और अपनी भूल के पश्चात्ताप के कारण उनमें ऐसे उज्ज्वल भाव का उदय हुआ कि अज्ञान का सर्वथा नाश होगया और केवलज्ञान प्रकट हो गया। केवलज्ञान प्रकट हो जाने पर भी सती मृगावती खड़ी ही रहीं। इतने में उन्होंने अपने ज्ञान से देखा

साफ रहते है मगर भीतर पोल चलाते हैं। इस पद्धति से साधुओं की तथा समाज की बहुत हानि हुई है। आज भी यही देखा जाता है कि कतिपय साधु ऊपर से तो साधुता का सुन्दर स्वांग रचते हैं मगर भीतर पोल चलाते रहते हैं। देशनेताओ, समाजसेवको और जातिसेवको में भी कुछ लोग ऐसे देखे जाते हैं जो बाहर कुछ प्रकट करते हैं और भीतर कुछ और ही करते हैं। आज तो धर्ममार्ग मे भी यही होने लगा है।

जिस काल में ऐसा अधेर होता है, शास्त्रकार उसे विषम-काल कहते हैं। ऐसा कोई काल नहीं है, जिसमें पाप न होते हो, मगर जिस काल में पापों को छिपाने का प्रयत्न नही किया जाता, पाप होने पर प्रकट कर दिये जाते हैं और उनके परित्याग की भावना रहती है, उस काल में चाहे जितने पाप हों फिर भी वह कल्याण का ही काल कहलाता है। अपराध इसी काल में होते हैं, ऐसी कोई बात नहीं है। पहले भी अपराध होते थे। किन्तु वर्त्तमानकाल और भूत-काल में अन्तर यह है कि भूतकाल में अपराध, अपराध समझे जाते थे और उन्हे छिपाया नहीं जाता था, जब कि वर्त्तमान काल में अपराधो को प्रकट करने की पद्धति बहुत ही कम दिखाई देती है और पापों एवं अपराधों को पाप एवं अपराध मानने वाले लोग भी बहुत कम नजर आते हैं। देश भर में, चहुँ ओर फैले हुए इस रोग के कारण ही आज विदेशी लोग भारतीयों पर अधिक भरोसा नहीं करते। इतिहास के अवलोकन से प्रतीत होता है कि भारत में बहुत से ऐसे लोग भी हो गये हैं, जिन्होंने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए देशद्रोह तक किया है। अगर ऐसा हुआ तो इसके लिए शास्त्र दोष के पात्र नहीं हैं। शास्त्र तो स्पष्ट घोषणा करते हैं कि सरल बनो, कपट न करो। अपराध के पाप से कपट का पाप कम नही वरन् ज्यादा ही है।

थी। अनजान में बाहर रह जाने पर भी अपने को अपराधी मानना कितनी सरलता है !

सती मृगावती को केवलज्ञान हुआ है, यह जानकर चन्दनबाला पश्चात्ताप करने लगीं। उन्होंने सोचा—'मैंने ऐसी उत्कृष्ट सती को उपालम्भ दिया और केवली की भी आसातना की। मुझसे यह बड़ा अपराध बन गया है। मैं अपना अपराध तो देखती नहीं, दूसरों को उपालम्भ देती हूँ !' इस प्रकार पश्चात्ताप करती हुई सती चन्दनबाला ने मृगावती से कहा—'मैंने आपकी अवज्ञा की है और मेरे कारण आपको कष्ट पहुँचा है। मेरा यह अपराध आप क्षमा करें। जब मैं अपना ही अपराध नहीं देख सकती तो दूसरो को किस बिरते पर उपालम्भ दे सकती हूँ ?' मृगावती ने कहा—आपने मुझे जो उपालम्भ दिया, उसी का तो यह प्रताप है ! फिर अनन्तज्ञान प्रकट हो जाने पर भी गुरु-गुरानी का विनय तो करना ही चाहिए। अतएव आप किसी प्रकार का पश्चात्ताप न करें। हाँ, मेरे कारण आपको जो कष्ट हुआ है, उसके लिए मुझे क्षमा कीजिए।'

चन्दनबाला विचारने लगी—इस तरह का उपालम्भ मैंने न जाने किसे-किसे दिया होगा ! अज्ञान के कारण ऐसे अनेक अपराध मुझसे हुए होंगे। मैंने अपना अपराध तो देखा नहीं और दूसरों को ही उपालम्भ देने के लिए तैयार हो गई। चन्दनबाला इस प्रकार आत्मनिन्दा करने लगी। आत्मनिन्दा करते-करते उसे भी केवलज्ञान प्रकट हो गया।

कहने का आशय यह है कि सरलता धारण करने से और अपने पापों का गम्भीर विचार करने से आत्मा नवीन कर्मों का

कि एक काला साँप उसी ओर जा रहा है, जिस ओर महासती चन्दनबाला हाथ को तकिया बनाकर सो रही हैं। हाथ हटा न लिया जाय तो सम्भव है, साँप काटे विना नहीं रहेगा। साँप ने काट खाया तो कितना घोर अनर्थ हो जायगा! इस प्रकार विचार कर साँप का मार्ग रोकने वाला महासती चन्दनबाला का हाथ हटा कर एक ओर कर दिया। हाथ हटते ही चन्दनबाला की आँखें खुली। आँख खुलते ही उन्होंने पूछा—'मेरा हाथ किसने खींचा?' मृगावती बोली—'क्षमा कीजिए। आपका हाथ मैंने हटाया है।' चन्दनबाला ने फिर पूछा—'किसलिए हाथ हटाया है?' मृगावती ने उत्तर दिया—'कारणवश हाथ हटाने से आपकी निद्रा भंग हो गई। आप मेरा यह अपराध क्षमा करें।' चन्दनबाला ने कहा—'तुम अभी तक जाग ही रही हो?' मृगावती ने उत्तर दिया—'अब निद्रा लेने की आवश्यकता ही नहीं रही।' चन्दनबाला ने पूछा—'पर हाथ हटाने का क्या प्रयोजन था?' मृगावती ने कहा—'इस ओर से एक काला साँप आ रहा था। आपका हाथ उसके रास्ते में था। सम्भव था वह आपके हाथ में काट लेता। इसी कारण मैंने आपका हाथ हटा दिया।' चन्दनबाला ने फिर पूछा—'इस घोर अन्धेरी रात में, काला साँप तुम्हें कैसे दिखाई दिया?' इस अन्धेरी रात में काला साँप दिखाई देना चर्मचक्षु का काम नहीं है। क्या तुम्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है?' मृगावती ने उत्तर दिया—'यह सब आपका ही प्रताप है।'

सती मृगावती में कितना विनय और कैसा उज्ज्वलतर भाव था! परिश्रम तो आज भी किया जाता है, मगर उसकी दिशा उलटी है। अर्थात् अपने अपराध छिपाने के लिए परिश्रम किया जाता है। मृगावती जान-बूझकर अपने स्थान से बाहर नहीं रही



छठा बोल

आत्मनिन्दा

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के २९ वें अध्ययन के पाँचवें बोल—आलोचना के विषय में विचार किया जा चुका है। शास्त्र में शिष्य ने प्रश्न पूछे हैं और भगवान् ने उनका उत्तर दिया है। यद्यपि यह प्रश्नोत्तरी गुरु-शिष्य के बीच हुई है, फिर भी यह सकल ससार के लिए हितकर है। अतएव इस प्रश्नोत्तरी पर ध्यान देना आवश्यक है।

आलोचना की सफलता आत्मनिन्दा पर निर्भर है। आलोचना आत्मनिन्दापूर्वक ही होनी चाहिए। इसी कारण शिष्य ने आलोचना के अनन्तर आत्मनिन्दा के विषय में प्रश्न पूछा है। प्रश्न इस प्रकार है —

प्रश्न—निंदणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—निंदणयाए णं पच्छाणुतावं जणेइ, पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ, करणगुणसेढिं पडिवन्ने य अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ ॥६॥

बन्ध नहीं करता, वरन् पूर्ववद्ध कर्मों को नष्ट कर डालता है। भगवान् ने कहा है—आलोचना करने से स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का बन्ध नहीं होता। अगर इन वेदो का पहले बन्ध हो गया हो तो उन कर्मों की निर्जरा हो जाती है। ऐसा होने पर भी हमें आलोचना क द्वारा पुरुषवेद के बन्ध की कामना नही करना चाहिये। हमारा एकमात्र उद्देश्य समस्त कर्मों का क्षय करना ही होना चाहिए।

कोई कुकृत्य ही न किया हो तो आत्मनिन्दा की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए टीकाकार कहते हैं—कोई पूर्ण पुरुष ही ऐसा हो सकता है जिसने किसी भी प्रकार का अपराध या दुष्कृत्य न किया हो। छद्मस्थ पुरुष से तो किसी न किसी प्रकार का अपराध हो ही जाता है। अतएव उस अपराध को छिपाने का प्रयत्न न करते हुए आत्मनिन्दा के द्वारा उसे दूर करना चाहिए। यद्यपि मूल-पाठ में सिर्फ निन्दा-शब्द का प्रयोग किया गया है, तथापि उसका अभिप्राय यहाँ आत्मनिन्दा करना ही है। परनिन्दा के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

शिष्य ने भगवान् से प्रश्न किया—आत्मनिन्दा करने से जीव को क्या फल मिलता है? किसी भी कार्य का निर्णय उसके फल से ही होता है। आम और एरंड के वृक्ष में फल की भिन्नता से भेद किया जाता है। अतएव यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि आत्मनिन्दा करने से किस फल का लाभ होता है? फल पर विचार करने से यह भी ज्ञात हो जायगा कि आत्मनिन्दा करना उचित है या नहीं? इसी अभिप्राय से शिष्य ने भगवान् से यह प्रश्न पूछा है कि आत्मनिन्दा करने से क्या फल मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—आत्मनिन्दा करने से 'मैंने यह खराब काम किया है' इस प्रकार का पश्चात्ताप होता है।

पश्चात्ताप करने में लोगों को यह भय रहता है कि मैं दूसरों के सामने हल्का या तुच्छ गिना जाऊँगा। मगर इस प्रकार का विचार उत्पन्न होना पतन का कारण है। सच्चे हृदय से आत्म-निन्दा की जायगी तो 'मैंने अमुक दुष्कृत्य किया है अथवा मैंने अमुक पाप छिपाया है' इस प्रकार का विचार आये बिना रह ही नहीं सकता। ऐसा करने से आत्मा में अपने दोषों को प्रकट करने

शब्दार्थ

प्रश्न—भंते ! आत्मनिन्दा से जीव क्या पाता है ?

उत्तर—आत्मदोषों की निन्दा पश्चात्ताप की भट्ठी सुलगाती है। पश्चात्ताप की भट्ठी मे दोष भस्म हो जाते हैं और वैराग्य का उदय होता है। ऐसा विरक्त पुरुष अपूर्वकरण की श्रेणी (क्षपक-श्रेणी) प्राप्त करता है और वह श्रेणी प्राप्त करने वाला अनगार मोहनीयकर्म का क्षय करता है।

—: व्याख्यान :—

आलोचना के विषय में प्रश्नोत्तर करने के पश्चात् निंदा के विषय में प्रश्नोत्तर किस अभिप्राय से किया गया है ? इस विषय में टीकाकार कहते हैं कि आलोचना के अनन्तर आत्मनिन्दा करनी ही चाहिए; क्योंकि आत्मनिन्दा करने से ही आलोचना सफल होती है। सच्ची बात वही मानी जाती है जो कसौटी करने पर खरी उतरे। सच्चा सोना वही है जो कष, छेद और ताप की परीक्षा में खरा उतरता है। इसी प्रकार आलोचना भी वही सच्ची मानी जाती है जो आत्मनिन्दापूर्वक की गई हो।

ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि जो शक्ति पराई निन्दा में खर्च करते हो, वह आत्मनिन्दा में ही क्यो नही लगाते ? आत्मनिन्दा के बिना की जाने वाली आलोचना, ढोंग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ऐसी आलोचना में पोल रहती है और एक न एक दिन पोल खुले बिना नहीं रह सकती। अतएव आलोचना के साथ आत्मनिन्दा भी करनी चाहिए।

प्रश्न हो सकता है—जब आत्मा ने किसी प्रकार का कुकृत्य किया हो तो आत्मा की निन्दा करना उचित है। अगर

का योग दस ही कहते हो—नौ या ग्यारह नहीं। इसी प्रकार समस्त संसार में यदि सत्य का ही व्यवहार हो तो कोई झगड़ा ही न रहे! लेकिन होता कुछ और ही है। जब दूसरे को ठगना होता है तो सत्यमय व्यवहार नहीं किया जाता। वहाँ कहना और करना अलग-अलग हो जाता है। साँप के दो जिह्वाएँ होती हैं। उसे 'द्विजिह्व' कहते हैं। इसी आधार पर दो जीभ वाले साँप कहलाते हैं और साँप विषैला समझा जाता है। किन्तु मनुष्य के एक ही जीभ होती है। अतएव मनुष्य में दोहरी प्रवृत्ति होना उचित नहीं है। वाणी तथा कार्य की एकता ही मनुष्यता का प्रमाण है। जो व्यक्ति वाणी और कार्य के बीच का अन्तर समझेगा वह आत्मसुधार की दृष्टि से आत्मनिन्दा ही करेगा। वह परनिन्दा करने की खटपट में नहीं पड़ेगा।

वाणी और कार्य की तुलना करने के साथ मन और कार्य की भी तुलना करो और साथ ही साथ मन तथा वचन की भी तुलना करो। मन का भाव जुदा रखना और कार्य जुदा करना स्थानांगसूत्र के कथनानुसार विष के घड़े को अमृत के ढक्कन से ढँकने के समान है। ऐसा करना संसार को धोखा देना है। मन एवं वचन में कुछ और होना और कार्य कुछ और करना आत्मा की बडी दुर्वलता है। आत्मा के कल्याण के लिए यह दुर्बलता दूर करनी ही चाहिए।

वास्तव में होना यह चाहिए कि मन, वचन और काय की प्रवृत्ति में किसी प्रकार का अन्तर न रहे। मगर आज तो उलटी ही सीख दी जाती है कि काय से चाहे जो पाप करो पर वचन में सफाई रक्खो और यदि दूसरों को धोखा देने की यह कला तुमने सीख ली तो बस मौज करोगे! किन्तु वास्तविक दृष्टि से देखा

का सामर्थ्य आता है और अपने पापों को छिपा रखने की दुर्बलता दूर होती है।

जैसे दर्पण में अपना मुख देखते हो, उसी प्रकार अपनी आत्मा को देखो तो विदित हो जायगा कि आत्मा में कितनी और किस प्रकार की त्रुटियाँ विद्यमान हैं? दर्पण मे मुख देखने में तो भूल नहीं होती परन्तु आत्मनिन्दा करने में भूल हो जाती है। आत्मा अपनी निन्दा न करके परनिन्दा करने को उद्यत हो जाता है। जब तुम्हारे अन्तःकरण में निन्दा करने की प्रवृत्ति है तो फिर उसका उपयोग आत्मनिन्दा करके निर्दोष और निरपराध बनने मे क्यों नही करते? परनिन्दा करके अपने दोषों की वृद्धि क्यों करते हो? जब दुर्गुण ही देखने हैं तो अपने ही दुर्गुण क्यों नहीं देखते? और उन्हीं दुर्गुणों की निन्दा क्यों नहीं करते? अपनी त्रुटियाँ दूर करने के लिए हमारे सामने क्या आदर्श है, यह बतलाने के लिए कहा गया है कि—

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कार्यमन्यद् दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं काय एकं महात्मनाम् ॥

अर्थात्—दुरात्मा अपने मन की, वचन की और कार्य की प्रवृत्ति भिन्न भिन्न रखता है अर्थात् उसके मन मे कुछ होता है, वचन से कुछ कहता है और कार्य कुछ और ही करता है। किन्तु महात्मा पुरुषों के मन, वचन और काय में एक ही बात होती है।

आत्मनिन्दा करने में इस नीतिवाक्य को आदर्श मानकर विचार करो कि मैं जिह्वा से जो कुछ कहता हूँ वह मेरे कार्य के अनुसार है या नहीं? ऐसा तो नहीं है-कि मैं कहता कुछ और करता कुछ और हूँ? गिनती में कोई भूल नहीं होती। तुम पाँच और पाँच

और देश को भुगतना पड़ता है। इस नियम के अनुसार मेरे पापों का फल भी सर्वसाधारण को भोगना पडा है। मेरे हृदय में सदैव यह दुर्भावना बनी रही कि किसी तरह पाण्डवों का नाश हो और मेरे पुत्र निष्कण्टक राज्य भोगें। मैं पाण्डवों की अभिवृद्धि फूटी आँखो से भी नहीं देख सकता था। मैंने पाण्डवों को जो कुछ दिया, वह बहुत थोड़ा था, फिर भी पाण्डवों ने अपने पराक्रम से, लोकमत अनुकूल करके उसमें बहुत वृद्धि कर ली थी। पाण्डवों की इस अभिवृद्धि से मुझे प्रसन्न होना चाहिए था। मगर मेरे दिल में तो द्वेष का दावानल दीप्त हो रहा था। मैं उनका अभ्युदय नहीं देख सका। मैं अपने जिन पुत्रों को राज्य देने के लिए पाण्डवो का नाश चाहता था, मेरे वह पुत्र भी ऐसे थे कि राज्य के लिए उन्होंने भीम को विष खिला दिया था और पाण्डवो को भस्म कर डालने के लिए लाक्षागृह बनाया था। यह सब मायाजाल रचने के उपलक्ष्य में मैंने अपने पुत्रो की थोड़ी निन्दा की थी, लेकिन भावना मेरी भी यही थी कि किसी भी उपाय से पांडवों का नाश हो जाय! इस प्रकार मैं हृदय से पाण्डवों का अहित ही चाहता था, तथापि भीष्म, द्रोणाचार्य तथा अन्य सज्जनों के समक्ष मेरी निन्दा न हो और मैं नीच न गिना जाऊँ, इस विचार से प्रेरित होकर कपटक्रिया करता रहता था। अगर मैं कपटक्रिया से बचा होता और निष्कपट व्यवहार किया होता तो आज मुझे पुत्रनाश का दुस्सह दुःख न देखना पड़ता।'

धृतराष्ट्र का इस प्रकार का पश्चात्ताप और उस पश्चात्ताप का विवरण ग्रन्थों में सुरक्षित रहना जगत् के हित के लिए उपयोगी प्रतीत होता है। धृतराष्ट्र कहते हैं—'मैं पहले समझ सका होता कि मेरी इस कपटक्रिया का यह भयंकर परिणाम होगा तो मैं

जाय तो ऐसा करने में मौज नहीं है—आत्मा का पतन है। ज्ञानी जनों का कथन है कि बोलना कुछ, करना कुछ और सोचना कुछ, यह सब प्रवृत्तियाँ आत्मा को पतित करने वाली हैं। अगर आत्मा के उत्थान की इच्छा है तो इन प्रवृत्तियों से दूर ही रहो।

धृतराष्ट्र ने अपने अन्तिम समय में, कुन्ती के सामने आलोचना करके अपने पापों की शुद्धि की थी। उस आलोचना के सम्बन्ध में विचार करने से एक नई बात सामने आती है। अपने पापों की आलोचना करते हुए धृतराष्ट्र ने संजय से कहा—'हम लोग जब वन में भ्रमण कर रहे थे तो एक ऐसा अन्धकूप हमें मिला था, जो ऊपर से घास से ढँका था। उस अन्धकूप को खराब कहा जाय या अपने आपको खराब कहा जाय? मेरा सम्पूर्ण जीवन लोगों को, अन्धकूप की भाँति, भ्रम में डालने में ही व्यतीत हुआ है। मैं ऊपर से तो पांडवों की भलाई चाहता था और शास्त्रविधि के अनुसार उन्हें आशीर्वाद भी देता था; मगर हृदय में यही था कि पाण्डवों का नाश हो और मेरे ही बेटे राज्य करें।'

तुम्हारा व्यवहार तो धृतराष्ट्र के समान नहीं है? धृतराष्ट्र की कूटनीति ने कितनी भयंकर हानि पहुँचाई थी, यह कौन नहीं जानता? उसकी कूटनीति के कारण ही महाभारत संग्राम हुआ था, जिसमें अठारह अक्षौहिणी सेनाओं का बलिदान हुआ था, अनेक तरुणियाँ विधवा हो गई थीं और अनेक बालक अनाथ बन गये थे, व्यापार चौपट हो गया था और चारों ओर चोर-डाकुओं का महान् उपद्रव मच गया था। धृतराष्ट्र ने कहा—यह सब अनर्थ मेरी ही कलुषित बुद्धि के कारण हुए हैं। मेरी बुद्धि में कलुषता न होती तो यह अनर्थ भी न होते। साधारण मनुष्य के पाप का फल उसी तक सीमित रहता है मगर महान् पुरुष के पापों का फल सारे समाज

की निन्दा नहीं करता और परनिन्दा के लिए कमर कसे रहता है, उसे भी धिक्कार ही दिया जा सकता है। जो पुरुष अमृत के समान भोजन का त्याग करके गधे की लीद खाने दौड़ता है, उसे भी धिक्कार ही दिया जा सकता है। मतलब यह है कि आत्मनिन्दा अमृतमय भोजन के समान है और पराई निन्दा करना गधे की लीद के समान है। तुम्हारे पास आत्मनिन्दारूपी अमृतमय भोजन है तो फिर परनिन्दारूपी गधे की लीद खाने के लिए क्यों दौड़ते हो? अपनी आत्मा को न देखना और दूसरों की निन्दा करना एक भयानक भूल है।

कवि कहता है—किसी पुरुष को चक्रवर्त्ती की कृपा से राज्य मिल गया हो, फिर भी वह अगर चक्की चाटने की इच्छा करता है तो उसे धिक्कार देने के सिवाय और क्या कहा जाय? क्योंकि चक्की चाटने का स्वभाव तो कुत्तो का है। कवि के इस कथन को लक्ष्य में रखकर आप अपने विषय मे विचार करें कि आपकी आत्मा तो ऐसी भूल नहीं कर रही है? न जाने किस प्रबल पुण्य के उदय से आपको चिन्तामणि, कामधेनु या कल्पवृक्ष से भी अधिक मूल्यवान् मानव-शरीर मिला है। चिन्तामणि, कामधेनु या कल्पवृक्ष तो मिल जाय मगर मनुष्य-शरीर न मिले तो यह सब चीजें किस काम कीं? ऐसा उत्तम मानव-जन्म पा करके भी जो आत्मनिन्दा करने के बदले परनिन्दा मे प्रवृत्त होते हैं, उनका कार्य राज्य मिलने पर भी चक्की चाटने के समान है।

आत्मनिन्दा द्वारा सब तरह का सुधार हो सकता है। पाप खराब है, इसलिए पाप की निन्दा की जाती है, मगर जिस पाप को तुम खराब मानते हो और जो वास्तव मे ही खराब है अथवा जिस पाप के कारण तुम पराई निन्दा करते हो, वह पाप तुम्हारे भीतर तो नहीं है? उदाहरणार्थ—हरामखोरी करना खराब काम है।

इस भीषण पाप से बच गया होता। हे दुर्योधन! मेरे ही पाप के कारण भीम ने तेरा संहार किया है। निष्पापा पतिव्रता गांधारी ने बार-बार मुझसे कहा था कि दुर्योधन का त्याग कर दो। जब जूवा आरम्भ हुआ तभी गांधारी ने उग्रतापूर्वक मुझसे कहा था—'इस पापी दुर्योधन का परित्याग कर दो, अन्यथा उसके कारण कदाचित् कुल का भी संहार हो जायगा।' मगर पुत्रस्नेह के वश होकर मैंने उसकी बात नहीं मानी। पुत्र के प्रति अनुचित स्नेह—मोह रखने का यह परिणाम आया है कि आज कुल का संहार हो गया और पुत्र-वियोग की वेदना भोगनी पड़ी!'

इस घटना का उल्लेख करने का आशय यह बतलाना है कि पाप को छिपा रखने से अन्त में कितना दुष्परिणाम होता है! यह बात ध्यान में रखकर पाप को दबाने की चेष्टा मत करो। उसे तत्काल प्रकाश में ले आओ।

सिख अगंन होते चाह चली, खर कूकन की धिक्कार उसे,
जिन खाय के अमृत वांछ रही, लीद पशुअन की धिक्कार उसे।
जिन पाय के राज की आश रही चक्की चाटन की धिक्कार उसे,
जिन पाय के ज्ञान की आश रही जग विषयन की धिक्कार उसे।

इस कविता में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, वे दूसरे के बोधक हैं। मगर हमारे लिए विचारणीय यह है कि मधुर वाद्य की मनोहारिणी ध्वनि यदि कर्णगोचर होती हो तो उसे छोड़कर गधे की कर्ण कटुक आवाज सुनने की इच्छा करने वाले को धिक्कार के सिवाय और क्या कहा जा सकता है? इसी प्रकार जो पुरुष अपने पाप छिपाता है तथा सुकृत करने की शक्ति और योग्य अवसर पा करके भी दुष्कृत करता है, उसके लिए धिक्कार के सिवाय और क्या कहा जा सकता है? इसके अतिरिक्त जो अपनी आत्मा

पसार कर देखने को तत्पर रहता हूँ, मगर अपने पहाड़ से दोषों को भी देखने की आवश्यकता नहीं समझता। मेरी यह स्थिति कितनी दयनीय है!

राजनीति, तथा धार्मिक एवं सामाजिक व्यवहार में अगर अपने दोष देखने की पद्धति स्वीकार की जाय तो आत्मा का कितना कल्याण हो? मगर आजकल क्या दिखाई देता है? मजिस्ट्रेट डेढ़ रुपया चुराने वाले को सजा देता है और स्वयं हजारों रुपया चोरी से हजम कर जाता है। अगर वह अपनी ओर आँख उठाकर देखे तो उसे विदित होगा कि उसका कार्य कितना अनुचित है। जब मनुष्य अपने कार्य का अनौचित्य सोचता है तो उसे पश्चात्ताप हुए बिना नहीं रहता।

भक्तजन अपने दोष परमात्मा के समक्ष नग्न रूप में प्रकट कर देते हैं। वे कहते हैं—'प्रभो! मैं अनन्त पातकों का पात्र हूँ।' इस प्रकार अपने पापों के प्रकाशन से आत्मा पाप-भार से हल्का हो जाता है। आत्मनिन्दा के द्वारा आत्मा जब निष्पाप बन जाता है तो उसे अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। हाँ, पाप को दबाने का परिणाम बड़ा ही भयंकर होता है। दबाये हुए पाप का परिणाम किस प्रकार भयंकर होता है, यह बात धृतराष्ट्र की आलोचना से सहज ही समझी जा सकती है।

आत्मनिन्दा करने से क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—आत्मनिन्दा करने का फल तो प्रत्यक्ष ही है। आत्मनिन्दा करने वाले के अन्तःकरण में पश्चात्ताप पैदा होता है कि—'हाय! मुझसे यह दुष्कृत्य बन गया!

अतएव एक आदमी दूसरे को हरामखोर कहकर धिक्कारता है। मगर उस धिक्कार देने वाले को देखना चाहिए कि मुझमें भी तो यही बुराई नहीं है ? अगर खुद मे यह बुराई है तो अपनी बुराई की ओर से आँख फेर कर दूसरे की ही बुराई क्यो देखी जाय ? कदाचित् दूसरे की निन्दा करके तुम अपनी मित्रमण्डली में भले आदमी कहला लोगे, परन्तु ज्ञानी जन तो वास्तविक बात के सिवाय और कोई बात अच्छी नहीं समझते। अतएव उनके सामने परनिंदा करके तुम भले नहीं कहला सकते।

कवि अन्त में यही कहता है कि जो व्यक्ति स्वयं बुरा होते हुए भी दूसरों की निन्दा करके अपने आपको भला सिद्ध करने की चेष्टा करता है, उसे धिक्कार देने के सिवाय और क्या कहा जाय ? जो अपने को ज्ञानी कहलाकर भी विषयों की आशा रखता है, वह अज्ञानियों से भी अधिक खराब है।

ऊपर कही हुई बातें भलीभाँति समझ लेने से आत्मनिन्दा की भावना जागृत होगी और जब आत्मनिन्दा की भावना जागृत होगी तो पापों के लिए पश्चात्ताप भी होगा। भक्तजन आत्मनिन्दा करने मे किसी प्रकार का संकोच नहीं करते। वे स्पष्ट शब्दों मे घोषणा कर देते हैं :—

हे प्रभु ! हे प्रभु ! शूं कहूँ, दीनानाथ दयाल।
हुँ तो दोष अनन्तनुं, भाजन छुं करुणाल ॥

अर्थात्—हे भगवन् ! मैं अपने दोषो का कहाँ तक वर्णन करूँ ! अनजान मे मैंने बहुतेरे दोष किये हैं। उनकी बात ही अलग है। मगर जान-बूझकर जो दोष किये हैं और जिनकी मैं निन्दा भी करता हूँ, वही दोष फिर करने लगता हूँ। मैं दूसरे के दोष आँख

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि संसार के जो पदार्थ एक जगह सुखदायक हैं, वही दूसरी जगह दुःखप्रद मालूम होते हैं। यह बात ध्यान में रखते हुए विवेक के साथ विचार किया जाय तो आत्मा को सांसारिक पदार्थों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता। सांसारिक पदार्थ एक जगह सुखदायक होते हुए भी दूसरी जगह दुःखजनक हैं, यह बात सिद्ध करने की आवश्यकता नही है। ऊन की बारीक और मुलायम शाल उत्तम श्रेणी की मानी जाती है, परन्तु उसी ऊन का एक बारीक तन्तु यदि आँख में पड़ जाय तो कैसा लगता है? जिस ऊन का तंतु शरीर पर सुखद मालूम होता था, वही आंख में पड़ कर घोर वेदना उत्पन्न करता है। यही हाल अन्य वस्तुओं का है। इसीलिए संसार के पदार्थ दुःखजनक कहे गये है। ससार के पदार्थ यदि सचमुच ही सुखद होते तो किसी भी समय और किसी भी अवस्था में दुखदायी न होते। मगर बात ऐसी नहीं है। अतएव स्पष्ट है कि सांसारिक पदार्थ सुखकर नहीं, दुःखदायक हैं।

संसार के पदार्थों में सुख नहीं है तो सुख क्या है, कहाँ है और किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वास्तविक सुख वह है जो कभी दुःख रूप परिणत न हो। जिसमें से कभी दुःख के अंकुर नहीं फूट सकते, वही सच्चा सुख है। एक अवस्था में सुखरूप और दूसरी अवस्था में दुखरूप प्रतीत होने वाला सच्चा सुख नहीं है। भूख लगने पर लड्डू मीठा और रुचिकर लगता है, किन्तु भूख शान्त होने के पश्चात् वही लड्डू मुसीबत बन जाते हैं। लड्डू एक समय रुचिकर और दूसरे समय अरुचिकर क्यों लगते हैं? लड्डू अगर दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं तो उन्हें सुखरूप कैसे कहा जा सकता है? इस उदाहरण पर

पश्चात्ताप ही आत्मनिन्दा की सच्ची पहचान है। जब पश्चात्ताप हो तो समझना चाहिए कि सच्चे हृदय से आत्मनिन्दा की गइ है। जिन्हे दुष्कृत्यो के प्रति अनुराग होगा, उनके हृदय में पश्चात्ताप न होना स्वाभाविक ही है और जिन्हे पश्चात्ताप नहीं होता, कहना चाहिए कि उन्होने वास्तव में आत्मनिन्दा ही नहीं की है।

पश्चात्ताप करने से क्या लाभ है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—पश्चात्ताप से वैराग्य उत्पन्न होता है और जब वैराग्य उत्पन्न होता है तो हृदय में सांसारिक पदार्थों का महत्व नहीं रहता। सांसारिक पदार्थों के प्रति ममता न होना पश्चात्ताप का लक्षण है। जब यह ममता हट जाय तो समझना चाहिए कि हृदय में सच्चा पश्चात्ताप हुआ है।

जो वस्तु एक बार सच्चे हृदय से खराब मान ली जाती है, उसके प्रति फिर रुचि नहीं होती। उदाहरणार्थ—तुम्हारे सामने भाँति-भाँति का भोजन आया। मगर उसी समय किसी ने तुम्हें भोजन में विष होने की सूचना दी। क्या इस अवस्था में उस भोजन के प्रति आपकी रुचि दौड़ेगी ? ठीक इसी प्रकार जब वास्तविकता का ज्ञान होता है और विवेक जागृत होता है तब संसार के किसी भी पदार्थ की ओर रुचि नहीं दौड़ सकती। जब तक विवेक जागृत नही हुआ है, तभी तक सांसारिक पदार्थों की ओर रुचि जाती है। [वि]वेक होने पर वही पदार्थ दुःखरूप दिखाई देने लगते हैं। कहा भी है—'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।' अर्थात् विवेकी पुरुप के लिए संसार के समस्त पदार्थ दुःखरूप ही प्रतीत होते हैं।

प्रश्न किया जा सकता है—प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से यह प्रतीत नही होता कि सांसारिक पदार्थ दुःखरूप हैं। ऐसी स्थिति में उन्हे दुःखरूप किस प्रकार माना जा सकता है ?

से ही हिंसा को हिंसा और अहिंसा को अहिंसा माना जा सकता है। यहाँ अहिंसा के संबंध में कुछ प्रकाश डाला जाता है।

'अहिंसा' शब्द 'अ' तथा 'हिंसा' के संयोग से बना है। व्याकरण के नियमानुसार यहाँ नञ् समास किया गया है। जहाँ नञ् समास होता है वहाँ कहीं-कहीं पूर्व पदार्थ को प्रधान बनाया जाता है, मगर 'अहिंसा' शब्द में पूर्व पदार्थ प्रधान नहीं हो सकता। जैसे 'अमक्षिकं' पद में पूर्व पदार्थ प्रधान है। पूर्व पदार्थ प्रधान होने के कारण 'अमक्षिक' पद से मक्खी का अभाव प्रतीत होता है। 'अहिंसा' पद में भी यदि पूर्व पदार्थ की प्रधानता मानी जाय तो अहिंसा का अर्थ 'हिंसा का अभाव' होगा। लेकिन इस अभाव से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती। अतएव 'अहिंसा' पद को पूर्व पदार्थ प्रधान नहीं माना जा सकता।

नञ् समास में कहीं कहीं उत्तर पदार्थ की प्रधानता होती है। जैसे 'अराजपुरुष' पद में उत्तर पद की प्रधानता है। अतएव 'अराज-पुरुष' कहने से यह जाना जा सकता है कि राजपुरुष से भिन्न कोई और मनुष्य है। 'अहिंसा' शब्द को अगर उत्तर पद-प्रधान माना जाय तो एक हिंसा से भिन्न किसी दूसरी हिंसा का बोध होगा, जैसे कि 'अराजपुरुष' कहने से राजपुरुष से भिन्न पुरुष का बोध होता है। 'अहिंसा' पद को उत्तर पद-प्रधान मानकर उससे किसी दूसरी हिंसा का ग्रहण करना उचित नहीं है, क्योंकि हिंसा चाहे कोई भी क्यों न हो, कल्याणकर नहीं हो सकती। शास्त्रकार अहिंसा को ही कल्याणकारिणी मानते हैं। ऐसी दशा में अहिंसा शब्द का 'दूसरे प्रकार की हिंसा' अर्थ नहीं माना जा सकता। इस प्रकार 'अहिंसा' शब्द में उत्तर पद की प्रधानता भी नहीं मानी जा सकती।

विचार करके मानना चाहिए कि विषयजन्य सुख, सुख नहीं सुखाभास है।

एक आदमी भोजन करने बैठा है। प्रिय और मधुर पकवानों से सजा हुआ थाल उसके सामने है। सुन्दरी पत्नी सामने बैठकर पंखा झल रही है। इसी समय उसके मुनीम ने आकर समाचार दिया—परदेश में आपके पुत्र की मृत्यु हो गई है। इस स्थिति में वह भोजन विष के समान प्रतीत हो और आँखों से आँसू बहे, यह स्वाभाविक है। अब विचार कीजिए कि भोजन और भामिनी में अगर सुख होता तो वे उस समय दुःखरूप क्यों प्रतीत होने लगते ? जब कि वह दुःखरूप प्रतीत होते हैं तो उन्हें सुखरूप कैसे माना जा सकता है ?

इस प्रकार संसार के किसी भी पदार्थ में सुख नहीं है। सांसारिक पदार्थों में जो सुख प्रतीत होता है वह विकारी सुख है-अविकारी सुख नहीं। अविकारी सुख तो सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र में ही है। इस सुख की प्राप्ति उसी समय होती है जब सांसारिक पदार्थों के प्रति वैराग्य पैदा हो जाय। यह सुख प्राप्त होने पर किसी भी प्रकार का दुःख शेष नहीं रहता। अतएव सच्चे हृदय से आत्मनिन्दा करो, जिससे पश्चात्ताप हो, पश्चात्ताप से वैराग्य हो और वैराग्य से सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप सच्चे सुख की की प्राप्ति हो।

जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही देखना और मानना सम्यग्ज्ञान का अर्थ है। हिंसा को हिंसा मानना और अहिंसा को अहिंसा समझना चाहिए। सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए हिंसा और अहिंसा का स्वरूप तथा इन दोनों के भेद समझने आवश्यक हैं। ऐसा करने

समान क्षत्रिय आदि अर्थ होता है, पत्थर आदि अर्थ नहीं हो सकता।

नञ् का दूसरा अर्थ 'अभाव' है। जैसे 'अमक्षिका' कहने का अर्थ 'मक्खी का अभाव' होता है।।

नञ् का तीसरा अर्थ 'तदन्यत्व' अर्थात् 'उससे भिन्न' है। जैसे—'अनश्व' कहने से घोड़े से भिन्न दूसरा (गधा आदि) अर्थ समझा जाता है।

नञ् का चौथा अर्थ 'तदल्पता' अर्थात् 'कमी' होता है। जैसे—'अनुदरा कन्या।' 'अनुदरा कन्या' का सामान्य अर्थ है—विना पेट की कन्या। परन्तु विना पेट का कोई भी मनुष्य नहीं हो सकता; अतएव 'अनुदरा कन्या' कहने का अर्थ होगा—'छोटे पेट वाली कन्या।' यहाँ 'अनुदरा' शब्द पेट का अभाव नहीं बतलाता वरन् उदर की अल्पता बतलाता है।

नञ् का पाँचवाँ अर्थ है—अप्रशस्तता। जैसे—'अपशवो ऽन्येऽगोऽश्वेभ्यः' अर्थात् 'गाय और घोड़ा के सिवाय अन्य जानवर अपशु है।' इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि गाय और घोड़ा के सिवाय अन्य जानवरों मे पशुत्व का अभाव है। इस कथन का सही अर्थ यह है कि अन्य जानवर उत्तम पशु नहीं हैं। गाय और घोड़ा को छोड़कर अन्य पशु उत्तम पशु नहीं हैं। यही कहने वाले का अभिप्राय है।

नञ् का छठा अर्थ है—विरोधी वस्तु को बतलाना। जैसे 'अधर्म' शब्द कहने से धर्म का अभाव नहीं समझा जा सकता, वरन धर्म का विरोधी अधर्म अर्थात् पाप अर्थ ही समझना संगत होता है।

नञ् समास में कहीं-कहीं अन्य पदार्थ की प्रधानता भी देखी जाती है। जैसे—'अगोष्पद' शब्द में अन्य पदार्थ की प्रधानता है। 'अगोष्पद' शब्द कहने से 'जहाँ गाय का पैर न हो ऐसा वन या प्रदेश' अर्थ लिया जाता है। इस प्रकार 'अगोष्पद' शब्द में अन्य पदार्थ (वन-प्रदेश) की प्रधानता है। अगर अहिंसा शब्द में अन्य पदार्थ की प्रधानता मानी जाय तो 'अहिंसा' का अर्थ होगा—'ऐसा मनुष्य जिसमें हिंसा नहीं है।' अर्थात् जिस पुरुष में हिंसा नहीं है वह पुरुष 'अहिंसा' कहलाएगा। परन्तु पुरुष द्रव्य है, क्रियाविशेष नहीं है और अहिंसा क्रिया विशेष है। अहिंसा व्रतरूप है परन्तु पुरुष व्रतरूप नहीं हो सकता। अतएव 'अहिंसा' में अन्य पुरुष की प्रधानता मानना भी युक्तिसंगत नहीं है।

नञ् समाज में कहीं-कही 'उत्तर पदार्थ का विरोधी' ऐसा अर्थ भी होता है। जैसे 'अमित्र' शब्द में उत्तर पदार्थ का विरोधी अर्थ है। 'अमित्र' शब्द से मित्र का विरोधी अर्थात् शत्रु अर्थ प्रतीत होता है। 'अहिंसा' शब्द का अर्थ भी इसी प्रकार—उत्तर पदार्थ का विरोधी करना चाहिए। अर्थात् यह मानना चाहिए कि जो हिंसा का विरोधी हो, वह अहिंसा है। इस प्रकार अहिंसा का अर्थ करने से पूर्वोक्त दोषों में से कोई दोष नहीं आता। अतः अहिंसा का अर्थ हिंसा-विरोधी-रक्षा अर्थ करना युक्तिसंगत और शास्त्रानुकूल प्रतीत होता है। विद्वानों ने नञ् समास के छह अर्थ बतलाये हैं। उनका कहना है—

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्त्तिताः॥

अर्थात्—नञ् के छह अर्थ हैं। उनमे पहला अर्थ है—तत्सादृश्य—उसी जैसा। यथा 'अब्राह्मण' कहने से ब्राह्मण के

होते हैं, नाक, कान, आँख आदि इन्द्रियों को किस प्रकार अपना-अपना भाग मिलता है, यह बात हम नहीं देख सकते। इसी प्रकार हम यह भी नहीं देख सकते कि कर्म आत्मा को किस प्रकार क्या करते हैं। मगर ज्ञानी पुरुष यह सब जानते हैं। कर्म आत्मा में क्या परिणति उत्पन्न करते हैं, यह बात आप ज्ञानियों के वचन पर श्रद्धा करके ही मान सकते हैं। वैद्य किसी रोग का उपशम करने के लिए औषध देता है। रोगी वैद्य पर विश्वास करके ही औषध सेवन करता है। रोगी स्वयं नहीं देख सकता कि औषध पेट में जाकर क्या क्रिया करती है; सिर्फ हकीम पर श्रद्धा रखकर सेवन करता जाता है। इसी प्रकार कर्म किस प्रकार क्रिया करते हैं और उनका विनाश किस प्रकार होता है, यह बात हम नहीं देख सकते। तथापि ज्ञानी पुरुष तो सम्यक् प्रकार से जानते ही हैं। तुम दवा द्वारा होने वाली क्रिया नहीं देख सकते किन्तु दवा से होने वाला परिणाम अवश्य देख सकते हो। इसी तरह आत्मा में कर्म जो कुछ करते हैं वह तुम नहीं देख सकते किन्तु कर्म का फल देख सकते हो और उसका अनुभव भी कर सकते हो।

सारांश यह है कि ज्ञानी पुरुषों के वचनों पर विश्वास करके हम यह मानते हैं कि आत्मा मे कर्म इस प्रकार की क्रिया करते है। जिन ज्ञानियों ने हमें बतलाया है कि कर्मों का फल दुख-दायी होता है, उन्हीं ज्ञानियों ने यह भी प्रकट किया है कि पश्चात्ताप करने से आत्मा को अपूर्वकरण गुणश्रेणी की प्राप्ति होती है। जैसे औषधि रोगों को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार अपूर्वकरण गुण-श्रेणी पूर्वसंचित पापों को खींचकर जला डालती है अर्थात् मोहनीय कर्म का नाश कर देती है। मोहनीय कर्म का नाश होने पर शेष कर्म भी उसी प्रकार हट जाते हैं, जैसे सेनापति के मर जाने पर सैनिक

अहिंसा का अर्थ भी इसी नियम के अनुसार होगा और इस कारण अहिंसा का अर्थ हिंसा का विरोधी अर्थात् रक्षा अर्थ ही उपयुक्त है। इसी अर्थ को दृष्टि में रखकर शास्त्रकारों ने रक्षा को अहिंसा का पर्यायवाचक शब्द बतलाया है। ऐसा होते हुए भी कई लोग अहिंसा का अर्थ 'हिंसा न करना' ही कहते हैं। वे रक्षा को अहिंसा के अन्तर्गत नहीं मानते। यह उनकी भूल है। हिंसा का विरोधी अर्थ रक्षा है। रक्षा अहिंसा के ही अन्तर्गत है। शास्त्रों में रक्षा के ऐसे-ऐसे उदाहरण मौजूद हैं कि उन्हें पढ़कर चकित रह जाना पड़ता है। राजा मेघरथ द्वारा कबूतर की रक्षा करने का उदाहरण अद्वितीय है। मेघरथ राजा ने अपना शरीर दे देना स्वीकार किया मगर शरणागत कबूतर को देना स्वीकार नहीं किया। अहिंसा का यह जीवित स्वरूप है। मृत अहिंसा किसी काम की नहीं होती। आज अहिंसा को कायरता का पोशाक पहनाया जाता है। मगर जो हिंसा का विरोध न करे वह अहिंसा ही नहीं। अहिंसा सदा जीवित ही होनी चाहिए। जीवित अहिंसा को जीवन में स्थान दिया जाय तो कल्याण अवश्यम्भावी है।

सच्ची अहिंसा का पालन करने वाला पापों के प्रायश्चित्त से कभी पीछे नहीं हटेगा। पापों का पश्चात्ताप करने से पापों के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है और पापों के प्रति अरुचि होने से आत्मा अपूर्वकरण गुणश्रेणी प्राप्त करता है।

अपूर्वकरण गुणश्रेणी किस प्रकार प्राप्त होती है, यह बात आध्यात्मिकता का रहस्य जानने वाला ही भलीभाँति जान सकता है। दूसरे के लिए समझना कठिन है। जैसे—हमारे उदर में अन्न जाता है, किन्तु उस अन्न में क्या-क्या परिणमन होते हैं, अन्न किस प्रकार पचता है, रसभाग और खल-भाग किस-किस प्रकार अलग

से निकलने देंगे ? ऐसा सुअवसर कौन चूकेगा ? पारस के संयोग से लोहा, सोना बन जाय तो भी वह आत्मा को वास्तविक शान्ति नहीं पहुँचा सकता, परन्तु पश्चात्ताप में यह विशेषता है कि वह लोहे को ऐसा सोना बनाता है जो आत्मा को अपूर्व, अद्भुत, अनिर्वचीय और अक्षय शान्ति प्रदान करता है।

जो पश्चात्ताप पाप को भी भस्म कर डालता है, उसे करने का अवसर मिलने पर भी जो व्यक्ति पश्चात्ताप न करके पाप का गोपन करता है, उसके विषय में एक भक्त ने ठीक ही कहा है—

अवगुण ढांकन काज करूँ जिनमत-क्रिया।
तजूं न अवगुण-चाल अनादिनी जे प्रिया॥

अर्थात्—हे प्रभो ! मैं अवगुणों को छिपाने के लिए जिनमत की क्रिया करता हूँ और ऐसा करके अपने अवगुण छिपाता हूँ—उनका त्याग नहीं करता। मेरी यह कैसी विपरीत क्रिया है !

महामति आत्मा का विचार कुछ विलक्षण ही होता है विचारशील व्यक्ति के विचारों का आभास देने के लिए द्रौपदी और युधिष्ठिर के बीच जो वार्त्तालाप हुआ था, यहाँ उसका उल्लेख किया जाता है।

द्रौपदी बुद्धिमती थी। उसे समझा सकना सहज काम नहीं था, क्योंकि वह सहज ही कोई बात नहीं मान लेती थी। वह उस बात के विरुद्ध तर्क भी करती थी। भीम, अर्जुन और युधिष्ठिर से कहा करते थे—'हम आपकी आज्ञा के अधीन हैं। हर हालत में हम आपका आदेश शिरोधार्य करेंगे ही, परन्तु द्रौपदी को आप यह बात भलीभाँति समझा दीजिए। इस प्रकार कोई बात द्रौपदी के गले उतारना टेढ़ी खीर समझी जाती थी।

भाग छूटते हैं। अथवा जैसे सूर्योदय होने से तारागण छिप जाते हैं और चन्द्रमा का प्रकाश फीका पड़ जाता है उसी प्रकार पश्चात्ताप से होने वाली अपूर्वकरण गुणश्रेणी द्वारा मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है और उसके नाश होने पर अन्यान्य कर्म भी नष्ट हुए विना नहीं रहते।

पश्चात्ताप का फल बतलाते हुए टीकाकार ने एक संग्रह-गाथा कही है—

उवरिमठिइयं दलियं हिट्ठिमठाणेसु कुणइ गुणसेढिं।
गुणसंकमं करई पुण असुहाओ सुहम्मि पक्खिवई॥

अपूर्वकरण गुणश्रेणी ऊपर के स्थान के कर्मपुद्गलों को खींचकर अधःस्थान पर ले आती है। जैसे—कोई व्यक्ति एक पुरुष को पकड़ना चाहता था। मगर वह शक्तिशाली होने के कारण पकड़ में न आया। यह उसका उपरितन (ऊँचा) स्थान कहलाया। अब कोई अधिक शक्तिमान तीसरा पुरुष उसे पकड़कर पहले पकड़ने वाले को सौंप दे तो वह पकड़ में आ गया। यह उसका अधः (नीचा) स्थान कहलाया। इसी प्रकार जो कर्म उदय में नहीं आते थे, उन्हे पकड़कर अपूर्वकरण गुणश्रेणी उदय मे ले आती है और उन कर्मों में गुणसंक्रमण कर देती है। मान लीजिए—एक जगह लोहा अधर लटका है। वह इतनी ऊँचाई पर है कि आपकी पकड़ में नही आता। परन्तु किसी ने खींचकर तुम्हे पकड़ा दिया। तुमने उसे पकड़कर पारसमणि का स्पर्श कराया और वह सोना बन गया। इसी प्रकार जो कर्म उदय मे नहीं आते थे, उन्हे करणगुणश्रेणी उदय में ले आती है और उनमे गुणसंक्रमण कर देती है अर्थात् पाप को भी पुण्य बना देती है। आपके हाथ में लोहा हो और उसे सोना बनाने का सुयोग मिल जाय तो क्या आप वह सुयोग हाथ

पहली भूल के पाप का प्रायश्चित्त था। मेरी इच्छा थी, मैंने पहली बार जो भूल की है, उसका पश्चात्ताप मुझे करना ही चाहिए। उस भूल का दण्ड मुझे भोगना ही चाहिए। मैं उस भूल के दण्ड से बचना नहीं चाहता था। यद्यपि अपनी भूल का तात्कालिक फल मुझे मिल गया था, पर तुम्हारे वरदान से वह दण्ड क्षमा कर दिया गया था। भूल करके तुम्हारे वरदान के कारण दण्ड से बच निकलना कोई अच्छी बात नहीं थी। जो स्वयं पाप करता है किन्तु पत्नी के पुण्य द्वारा, पाप के दण्ड से बचना चाहता है, वह धर्म को नहीं जानता। इसके अतिरिक्त काका ने तुम्हें जो वरदान दिया था, वह हृदय परिवर्तन के कारण नहीं वरन् भय के कारण दिया था। उनके हृदय में सचमुच ही परिवर्तन हुआ होता तो वह दूसरी बार भी हम लोगों को वन में न जाने देते। वास्तव में उनका हृदय बदला नहीं था। बल्कि उनके हृदय में यह भावना थी कि किसी भी उपाय से पाण्डव दूर चले जाएँ और मेरे पुत्र निष्कटक राज्य भोगें। हृदय में इस प्रकार की भावना होते हुए भी, लोकापवाद के भय से ही काका ने मीठे वचन कहकर तुम्हें वरदान दिया था। अतएव मैंने सोचा—मुझसे जो अपराध हुआ है, उसके दण्ड से बच निकलना उचित नहीं है। मुझे अपनी भूल का फल भोगना ही चाहिए। मैं दुर्योधन से यह कहना चाहता था कि तुझे जो करना हो सो कर, लेकिन मैं पत्नी को मिले वरदान के कारण वनवास से नहीं बचना चाहता। मैं मन ही मन यह कहने का विचार कर ही रहा था कि उसी समय दुर्योधन का आदमी मेरे पास आया। उसने मुझसे कहा—'आपको दुर्योधन महाराज फिर जूआ खेलने के लिए बुलाते हैं।' दुर्योधन का यह सन्देश सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई। मैंने निश्चय किया—इस बार फिर सर्वस्व हार जाना ही उचित है, जिससे मैं

एक दिन द्रौपदी विनयपूर्वक हाथ जोड़कर धर्मराज के पास आकर बैठी। धर्मराज ने उससे पूछा—'देवी! स्वस्थ हो न?'

द्रौपदी—महाराज! मन मे कुछ रखना और जीभ से कुछ कहना मैंने नहीं सीखा। मेरे हृदय मे तो ज्वाला धधक रही है। इस स्थिति में कैसे कहूँ कि मैं स्वस्थ हूँ!

धर्मराज—तुम्हारा कहना सच है। तुम्हारे हृदय में जो ज्वाला धधक रही है, उसका कारण मैं ही हूँ। मेरे ही कारण तुम सब को वनवास भोगना पड़ा है।

द्रौपदी—मेरे हृदय में एक सन्देह उत्पन्न हो गया है। मैं आपसे उसका निवारण कराना चाहती हूँ।

धर्मराज—कहो, क्या सन्देह है?

द्रौपदी—जिस समय दुष्ट दुश्शासन ने मुझे नग्न करने का प्रयत्न किया था, उस समय मेरे शरीर का वस्त्र बढ़ गया था। वह खींचते-खींचते थक गया लेकिन मुझे नग्न नहीं कर सका था। इस घटना से धृतराष्ट्र का हृदय परिवर्तन हो गया था और उन्होंने मुझसे वर माँगने के लिए कहा था। उस समय मैंने यह वर माँगा था कि मेरे पति को गुलामी से मुक्त कर दिया जाय। उन्होंने मेरा यह वचन मानकर आप सबको मुक्त कर दिया था और राजपाट भी वापस सौंप दिया था। इस प्रकार वह घटना समाप्त हो गई थी। फिर आप दूसरी बार जूआ क्यो खेले? जूआ खेलकर दूसरी बार बंधन में क्यों पड़े? क्या इस प्रश्न का आप समाधान करेंगे?

युधिष्ठिर—जब पहली बार मैंने जूआ खेला तब तो मेरी भूल थी, मगर दूसरी बार खेलने में मेरी कोई भूल नहीं थी। वह तो

युधिष्ठिर—देवी ! हम लोग जब वन में चलते हैं तो अपने पैर के नीचे फूल भी आ जाते हैं। यद्यपि उसे पैर से कुचलकर हम उसका अपराध करते हैं तथापि वह अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। जब फूल भी अपना स्वभाव नही छोड़ता तो फिर दुर्योधन की करतूत देखकर मैं अपना स्वभाव कैसे छोड़ दूं ? दुर्योधन हमारे प्रति चाहे जैसा व्यवहार करे परन्तु मैं अपना क्षमाभाव नहीं त्याग सकता। जैसे भीम को गदा का और अर्जुन को गांडीव का बल है, उसी प्रकार मुझमें क्षमा का बल है। यद्यपि गदा और गांडीव का प्रयोग जैसे प्रत्यक्ष दिखाई देता है वैसा क्षमा का प्रयोग प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता और न उसका तात्कालिक फल ही दृष्टिगोचर होता है। परन्तु मुझे अपनी क्षमा पर विश्वास है। मैं विश्वासपूर्वक मानता हूँ कि जैसे दीमक वृक्ष को खोखला कर देती है उसी प्रकार मेरी क्षमा ने दुर्योधन को खोखला बना दिया है। दीमक के द्वारा खोखला होने के पश्चात् वृक्ष चाहे आँधी से गिरे या बरसात से, मगर उसे खोखला बनाने वाली चीज तो दीमक ही है। इसी प्रकार दुर्योधन का पतन चाहे गदा से हो या गांडीव से, लेकिन उसे निःसत्व बनाने वाली मेरी क्षमा ही है। अगर मेरी क्षमा उसे खोखला न कर सकी तो गदा या गांडीव का उस पर कोई प्रभाव नही पड़ सकता।

द्रौपदी ने कहा—धर्म की यह तराजू अद्भुत है ! आपके कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि आप प्रत्येक कार्य धर्म की तुला पर तोल कर ही करते हैं।

युधिष्ठिर—साधारण चीजें तोलने के कांटे में कुछ पासंग भी रहता है, लेकिन जवाहिर या हीरा माणिक तोलने के कांटे में रंचमात्र भी पासंग नहीं चल सकता। इसी प्रकार धर्म का कांटा,

वन में जा सकूं और पत्नी के वरदान के कारण मिली हुई वनवास-मुक्ति से मुक्त हो सकूं। मेरे भाई मेरे निश्चय का अनुसरण करें या न करें, परन्तु मुझे तो वनवास करना ही चाहिए। इस प्रकार निश्चय करके मैंने फिर जूआ खेला और उसमें हार गया। मन में निश्चित किये विचारों को पूर्ण करने के लिए ही मैंने दुबारा जूआ खेला था।'

युधिष्ठिर का यह स्पष्टीकरण सुनकर द्रौपदी कहने लगी—आपने यह तो नवीन ही बात सुनाई! आपके दूसरी बार जूआ खेलने का मतलब तो मै समझ गई। लेकिन एक दूसरी बात मैं पूछना चाहती हूँ। वह यह है कि जब गन्धर्व ने दुर्योधन को कैद कर लिया था तब आपने उसे छुड़ाने के लिए भीम और अर्जुन को क्यों भेजा था?

युधिष्ठिर उत्तर देते हुए कहने लगे—देवी! मैं जिस कुल में उत्पन्न हुआ हूँ उसी कुल के मनुष्य को, जिस वन मे मैं रहता हूँ उसी वन मे मार डाला जाय, यह मै कैसे देख सकता हूँ! तुम पीछे आई हो, लेकिन कुल के संस्कार मुझमें तो पहले से ही विद्यमान हैं। हम और कौरव आपस में भले ही लड़ मरें, मगर हमारा भाई दूसरे के हाथ से मार खाय और हम चुपचाप बैठे देखें, यह नहीं हो सकता। इसी कारण दुर्योधन को गन्धर्व के सिकंजे में से छुड़ाने का मुझे कोई पश्चात्ताप नहीं है। उलटा इससे मुझे आनन्द है। दयाभाव से प्रेरित होकर मैंने दुर्योधन को शत्रु के पंजे से छुड़ाया है।

धर्मराज का यह कथन सुनकर द्रौपदी कहने लगी—आप इस समय जो कष्ट भोग रहे हैं, वह सब इसी दया का परिणाम है न? आपने उसे बचाया मगर वह दुष्ट आपका उपकार मानता है? अजी, वह तो उलटा हमें कष्ट देने का ही प्रयत्न करता है।

११

सातवाँ बोल ।

गर्हा

निंदा के सम्बन्ध में जो प्रश्नोत्तर चल रहा था, वह समाप्त हुआ। आत्मनिंदा, गर्हापूर्वक करनी चाहिए। अतएव यहाँ गर्हा के सम्बन्ध में विचार करना है। गर्हा के सम्बन्ध में भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है :—

प्रश्न—गरहणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—गरहणयाए अपुरेकारं जणयइ, अपुरेकारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ, पसत्थे य पडिवज्जइ, पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाई पज्जवे खवेइ ॥७॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! गर्हणा करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

विना किसी अन्तर के, ठीक निर्णय दे देता है। मैं अपने धर्मकांटे मे तनिक भी अन्तर नहीं आने देता। मैं अपना अपकार करने वाले का भी उपकार ही करूँगा और इसका कारण यही है कि मेरी धर्मतुला ऐसा करने के लिए मुझे बाध्य करती है।'

मित्रो! आपको भी युधिष्ठिर के समान क्षमा धारण करनी चाहिए या नहीं? अगर आज ऐसी क्षमा का व्यवहार करना आपके लिए शक्य न हो तो कम से कम श्रद्धा में तो क्षमा रक्खी ही जा सकती है। क्षमा पर परिपूर्ण श्रद्धा रखना तो सम्यग्दृष्टि का स्वाभाविक गुण है। सब पर समभाव रखने वाला ही सम्यग्दृष्टि कहलाता है। समभाव धारण करने वाले मे इसी प्रकार की क्षमा की आवश्यकता है। आज आप लोगों के व्यवहार में इस क्षमा के दर्शन नही होते, मगर युधिष्ठिर जैसों के चरित में वह मिलती ही है। अतएव उसकी शक्यता के सम्बन्ध में शंका नहीं उठाई जा सकती।

कि मेरे पाप या दोष मैं और परमात्मा ही क्यों जानें? अपने पापों की प्रकटता यहीं तक सीमित क्यों रहे? दूसरे लोगों को भी मेरे पापों का पता क्यों न चल जाय? मेरा नग्नस्वरूप जगत् क्यों न देखे? इस प्रकार की विचारधारा से प्रेरित होकर गुरु आदि के समक्ष अपने दोष निवेदन करना गर्हा कहलाता है। अपने दोषों की आप ही निन्दा करना निन्दा है, चाहे दूसरा कोई छद्मस्थ जाने या न जाने। मगर गर्हा तो दूसरों के सामने अपने दोष प्रकट करने के लिए ही की जाती है।

इस भेद को देखते हुए गर्हा का फल निंदा के फल से अधिक होना चाहिए। गर्हा का फल अधिक न हो तो उसके करने से लाभ ही क्या है? फल का विचार किये विना मन्द पुरुष भी किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं करता। अतएव गर्हा का फल निन्दा की अपेक्षा अधिक ही होना चाहिए।

प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं—गर्हा करने से अपुरस्कारभाव उत्पन्न होता है। किसी व्यक्ति की प्रशंसा होना—जैसे यह उत्तम पुरुप है, यह गुणवान् पुरुष है, आदि कहना—पुरस्कारभाव कहलाता है। अपुरस्कार में इस प्रकार के पुरस्कार का अभाव है। 'अपुरस्कार' शब्द में 'अ' अभाव का सूचक है। गर्हा करने से अपुरस्कारभाव प्रकट होता है। पहलेपहल तो ऐसा भय बना रहता था कि कोई मेरा अपराध जान लेगा तो मुझे तुच्छ समझकर मेरी निन्दा करेगा। किन्तु जब गर्हा करने का विचार आता है तो वह भय जाता रहता है। उस समय व्यक्ति की यही इच्छा होती है कि लोग मुझे प्रशंसनीय न मानें वरन् निंदनीय समझें। इसी फल की प्राप्ति के लिए गर्हा की जाती है। अर्थात् लोगों की दृष्टि में अपने को निन्दनीय मानने के लिए गर्हा की जाती है।

उत्तर—गर्हणा करने से जीव दूसरों से सन्मान नहीं पाता। कदाचित् उसमें खराब भाव उत्पन्न हो जाएँ तो भी वह अपमान के भय से खराब विचारो को हृदय से बाहर निकाल देता है अर्थात् शुभ परिणाम वाला हो जाता है। प्रशस्त परिणाम से ज्ञानावरण आदि कर्मों का क्षय करके वह अनन्त सुखरूप मोक्ष प्राप्त करता है।

व्याख्यान

भगवान् से शिष्य ने यह प्रश्न पूछा है कि—'हे भगवन्! गर्हा—अपने दोषों का दूसरे के समक्ष प्रकाशन—करने से जीव को क्या लाभ होता है?' भगवान् ने इस प्रश्न के उत्तर में जो कुछ कहा है, उस पर विचार करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है गर्हा वास्तव में किसे कहते हैं? निन्दा और गर्हा में क्या अन्तर है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार कहते हैं—अनेक पुरुष ऐसे हैं जो अपनी आत्मा को नीच मानते हैं और कहते हैं—

जेती वस्तु जगत में, नीच नीच तें नीच।
तिनते मै हूँ अधम अति, फँस्यो मोह के बीच॥

अर्थात्—संसार में नीच से नीच गिनी जाने वाली जितनी वस्तुएँ हैं, उनमें मेरी आत्मा सब से नीच है।

पापोऽहं पापकर्माऽहं, पापात्मा पापसम्भवः।

अर्थात्—हे प्रभो! मैं पापी हूँ, पापकर्मा हूँ और जिन पापों को मैं बार-बार धिक्कारता हूँ उन्हीं पापों को पुनः करने वाला हूँ। इससे बढ़कर पतितदशा और क्या हो सकती है?

इस संसार में अनेक महात्मा भी ऐसे हैं जो अपने विषय में ऐसा ही अनुभव करते हैं। उनकी विचारधारा कुछ ऐसी होती है

प्रायः देखा जाता है कि लोग निन्दनीय कार्य तो कर बैठते हैं मगर निन्दा सुनने से डरते हैं और निन्दा सुनने के लिए तैयार नहीं होते। शास्त्र कहता है—जब किसी व्यक्ति के अन्तःकरण में यह भावना उद्भूत होती है कि मैंने जो निन्दनीय कार्य किये हैं, उनके कारण होने वाली निन्दा मैं सुन लूँ, तब वह गर्हा किये विना नहीं रहता और जब वह इस तरह शुद्ध भाव से गर्हा करता है तब गर्हा से उत्पन्न होने वाले अपुरस्कारभाव द्वारा वह अप्रशस्त योग स निवृत्त हो जाता है।

शूली पर चढ़कर, शस्त्राघात सहन करके या विषपान करके मर जाना कदाचित् सरल है, परन्तु शान्तभाव से अपनी निन्दा सुनना सरल नहीं है। अपनी निन्दा सुनकर अशुभ योग का आ जाना बहुत सम्भव है। मगर अपनी निन्दा सुन लेने वाला और जिन कामों की बदौलत निन्दा हुई है, उनका त्याग कर देने वाला अपने अन्तःकरण में अशुभ योग नहीं आने देता। इसका फल यह होता है कि वह अप्रशस्त योग से निकलकर प्रशस्त योग में प्रविष्ट हो जाता है।

संसार मे विरले ही ऐसे पुरुष मिलेंगे जो अपनी निन्दा सुनने के लिए तैयार हों। अधिकांश लोग ऐसे ही हैं जो चाहते हैं कि हम खराव कृत्य भले ही करें किन्तु हमें कोई खराब न कह पावे। यह दुर्भावना आत्मा के लिए विप के समान है। इस विष से आत्मा में अधिक बुराइयाँ आ घुसती हैं। इससे विपरीत जिनकी भावना यह है कि मुझे प्रशंसा नहीं चाहिए, निन्दा ही चाहिए, वे लोग गर्हा किये विना नहीं रहते। गर्हा करने वालों में अपुरस्कारभाव आता है और अपुरस्कारभाव आने से पापों का नाश हो जाता है। इस प्रकार आत्मा जब अपुरस्कारभाव को अपनाती है तब वह अप्रशस्त योग से छूटकर प्रशस्त योग प्राप्त करती है।

कहा जा सकता है कि यह तो गर्हा का उलटा फल मिला। गर्हा करने से तो उलटी अधिक निंदा हुई! गर्हा करने से यदि निंदा होती है और शास्त्रकार भी गर्हा का फल अपुरस्कार बतलाते हैं तो गर्हा करने से लाभ के बदले हानि ही समझना चाहिए। अपमान से बचने के लिए लोग बड़े-बड़े पाप करते हैं, तो फिर अधिक निन्दा करने के लिए गर्हा क्यों की जाय?

इस प्रश्न का उत्तर यह है। वास्तव में बड़े-बड़े पाप निन्दा से बचने के लिए ही किये जाते हैं। मैं तो यहाँ तक मानता हूँ कि कई एक मत-मतान्तर भी अपने पापों को पुण्य प्रमाणित करने के लिए चल रहे हैं अथवा इसीलिए चलाये गये हैं कि उनके चलाने वाले निन्दा से बच जाएँ। अर्थात् अपने पाप दबाने के लिए या उन पर पुण्य का पालिश चढ़ाने के लिए ही अनेक मत-मतान्तर चलाये गये हैं। बात खराब है, यह जानते हुए भी उसे न छोड़ना फिर भी जनता में अपना स्थान उच्च बनाये रखना, इस उद्देश्य से पाप को धर्म का रूप दिया जाता है और उसी को सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। देखा जाता है कि लोग अपनी भलमनसाई प्रकट करने के लिए और अपनी गरीबी दबाने के लिए नकली मोती या रोल्डगोल्ड की माला पहन लेते है। इस पद्धति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोग सन्मान चाहते हैं। इस प्रकार सन्मानलाभ की भावना से ही पाप को पुण्य का रूप दिया जाता है और पाप को धार्मिकसिद्धान्त के आसन पर आसीन कर दिया जाता है। किन्तु गर्हा करने वाला व्यक्ति इस प्रकार की भावना का परित्याग कर देता है और अपुरस्कारभाव धारण करता है। जो सन्मान की कामना से ऊपर उठ चुका है और अपमान का जिसे भय नहीं है, बल्कि जो अपमान चाहता है, वही व्यक्ति गर्हा कर सकता है।

मो सम पतित न और गुंसाईं ।
अवगुण मोसो अजहुं न छूटें, भली तजी अब ताई ।
मोह्यो जेही कनक-कामिनी, ते ममता मोह बढ़ाई ।
रसना स्वाद मीन ज्यों उलझी, सुलझत नहि सुलझाई ।
मो सम पतित न और गुसाईं ॥

अर्थात्—प्रभो ! मुझसा पतित और कौन होगा ? मैं गुणों का त्याग कर देता हूँ पर अवगुणों का तो आज तक त्याग नहीं किया।

जिसमें भक्तजनों के समान ऐसी भावना होगी वह अपने पाप अवश्य नष्ट कर डालेगा। वास्तव में जो इस उच्च भावना का धनी है वह बड़ा भाग्यशाली है। शास्त्रकार ऐसे भाग्यशाली को इसीलिए कहते हैं कि पुरस्कारभावना से निकलकर अपुरस्कार-भावना मे आने के लिए गर्हा करो और गर्हा करके अपुरस्कार-भावना में आओ।

भक्तजनों का कथन है—हे प्रभो ! मैं भलीभाँति जानता हूँ कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र अथवा साधु-अवस्था हितकर है और क्रोध आदि विकार अहितकर हैं। फिर भी मैं साधु-पन अंगीकार नहीं करता और क्रोध करता हूँ। यह मेरी कैसी विप-रीत दशा है ! ऐसी दशा मे मुझ जैसा पतित और कौन होगा ?

अगर साधुपन तुमसे नहीं ग्रहण किया जाता तो कम से कम क्रोध को तो मारो। श्रीउत्तराध्ययनसूत्र में कहा है :—

कोहं असच्चं कुव्विज्जा, धारिज्जा पियमप्पियं ।

अर्थात्—क्रोध को असत्य करो अर्थात् क्रोध को पी जाओ और अप्रिय को भी प्रिय धारण करो। क्रोध किस प्रकार असत्य

अप्रशस्त योग मे से निकलकर प्रशस्त योग में प्रवेश करना साधारण बात नहीं है। धूल के रुपये बनाये जा सकते हैं, मगर अप्रशस्त को प्रशस्त बनाना उससे भी कहीं कठिन कार्य है। आपने बाजीगरों को धूल से रुपया बनाते देखा होगा। वह तो सिर्फ हस्त-कौशल है। अगर वह धूल से रुपया बना सकते तो पैसे-पैसे के लिए क्यों भीख माँगते फिरते? यह वस्तुस्थिति स्पष्ट होने पर भी बहुतेरे लोग ऐसी बातों में चमत्कार मानते हैं और कहते हैं कि चमत्कार को ही नमस्कार किया जाता है। इस भावना से प्रेरित होकर लोग ढोंग को भी चमत्कार मानने लगते हैं और इस प्रकार के ढोंग के पीछे लोग और विशेषतः स्त्रियाँ पागल बन जाती है। इस प्रकार अन्धे होकर ढोंग के पीछे दौड़ने का अर्थ यह है कि अभी तक परमात्मा के प्रति पूर्ण और दृढ़ विश्वास उत्पन्न नहीं हुआ है। परमात्मा के प्रति सुदृढ़ विश्वास उत्पन्न हो जाने पर यह स्थिति उत्पन्न नहीं होती।

आशय यह है कि लोग इस प्रकार ढोंग में तो पड़ जाते हैं किन्तु अपनी आत्मा को नहीं देखते कि हमारी आत्मा में क्या है? भक्तजन यह बात ध्यान में रखकर ही यह कहते हैं—

रे चेतन ! पोते तू पापी, पर ना छिद्र चितारेजी।

भक्तजनों ने अपनी आत्मा को यह चेतावनी दी है—'हे आत्मन्! तेरे पापों का पार नहीं है। फिर भी तू अपने पाप न देखकर दूसरों की बातों में क्यों पड़ता है? तेरे पात्र में मलीन जल भरा है, उसे तो तू साफ नहीं करता और दूसरों से कहता-फिरता है कि लाओ, मैं तुम्हारा पानी साफ कर दूं! यह कथन क्या युक्तिसंगत कहा जा सकता है? भक्तजन सबसे पहले अपने पर ही विचार करते हैं, अतएव वह कहते हैं—

माता—पिता का घात करने वाले से बड़ा शत्रु और कौन हो सकता है ?

पुत्र—सचमुच, ऐसा घोर कृत्य करने वाला महान् अपराधी है। आप यह बतलाइये कि कौन मेरे पिता का घातक है ?

माता ने नाम बतला दिया। पुत्र ने कहा—ऐसा था तो आपने अभी तक मुझसे कहा क्यों नहीं ?

माता—जहाँ तक तुम्हारा पराक्रम पूर्णरूप से विकसित नहीं हुआ था, तब तक तुम्हें शत्रु कैसे बतलाती ?

पुत्र—ठीक है। मैं जाता हूँ और शत्रु को वश में कर लाता हूँ। जब तक मैं उसे वश में न कर लूंगा, अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।

पुत्र अपने पिता के घातक के पास जाने को उद्यत हुआ। उस घातक को भी पता चल गया कि वह मुझे मारने आ रहा है। उसने सोचा—वह वीर है और क्रुद्ध होकर आ रहा है। ऐसी हालत में मुझे मार डाले बिना नहीं रहेगा। इस प्रकार विचार कर वह क्षत्रियपुत्र के सामने आया और उसके पैरों मे पड़ गया। क्षत्रिय-कुमार ने कहा—तू मेरा शत्रु है, क्यों मेरे पैरों में पड़ता है ? वह क्षत्रिय गिड़गिड़ाकर कहने लगा—मैंने आपके पिता का घात अवश्य किया है, फिर भी मैं आपके शरण आया हूँ।

क्षत्रिय शरणागत को नहीं मारता। इस सम्बन्ध में मेवाड़ में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है। मुगल बादशाह मेवाड़ के महाराणा का शत्रु था। किन्तु जब महाराणा बादशाह को मारने लगे तो बादशाह बोला—'मैं आपकी गाय हूँ।' बादशाह के मुख से यह दीनतापूर्ण शब्द सुनकर राणा ने उसे छोड़ दिया। दूसरे लोगों ने राणा से

किया जा सकता है, इसके लिए एक दृष्टान्त दिया गया है। वह इस प्रकार है—

एक क्षत्रिय को किसी दूसरे क्षत्रिय ने मार डाला। मारे गये क्षत्रिय की पत्नी गर्भवती थी। गर्भस्थित बालक संस्कारी था। जनमने के बाद बड़ा होकर वह ऐसा वीर निकला कि राजा भी उसका सन्मान करने लगा। एक बार वह किसी युद्ध में विजय प्राप्त करके आया। राजा और प्रजा के द्वारा अपूर्व सन्मान पाकर वह घर गया। रास्ते में वह सोचता जाता था कि सब लोगों ने मेरा सन्मान किया है, मगर मैं अपने को सच्चा सन्माननीय तभी मानूँगा, जब मेरी माता भी मेरे कार्य को अच्छा समझेगी और मुझे आशीर्वाद देगी। मुझे दुनिया में जो सन्मान प्राप्त हो रहा है, वह सब माता की ही कृपा का फल है।

इस प्रकार सोचता हुआ वह अपनी माता के पास पहुँचा। उस पर नजर पड़ते ही माता ने अपना मुँह फेर लिया। यह देखकर वह सोचने लगा—मेरी माँ मेरी ओर दृष्टिपात भी नहीं करना चाहती! मुझे धिक्कार है! तदनन्तर उसने माँ से कहा— माँ, इस बालक से क्या अपराध बन गया है कि आप इसकी ओर देखना भी नहीं चाहतीं।'

माता बोली—बेटा, तुम्हारा असली शत्रु तो अभी तक जीवित है। जब तक उसे न जीत लिया जाय, तब तक मुझे प्रसन्नता कैसे हो सकती है?

पुत्र ने कहा—आपका कहना सच है। मगर वह है कौन जो मेरा सच्चा शत्रु है?

प्राप्त करना उतनी बड़ी वीरता नहीं, जितनी क्रोध पर विजय प्राप्त करना वीरता है। इसलिए तू क्रोध को जीत।

क्षत्रियकुमार ने उस क्षत्रिय से कहा—मैं अपनी माता का आदेश मानकर तुझे छोड़ता हूँ और अभयदान देता हूँ।

जो स्वयं निर्भय है वही दूसरे को अभयदान दे सकता है। अभयदान यद्यपि सब दानों में उत्तम माना गया है मगर उसका अधिकारी वही है जो स्वयं अभय है। जो स्वय भय से काँप रहा हो वह दूसरे को क्या खाक अभयदान दे सकेगा? तुम-लोक स्वय तो भय से थर्राते हो और बकरो को अभयदान देने दौड़ते हो! इसमें करुणाभाव तो है, मगर यह पूर्ण अभयदान नहीं है। तुम पहले स्वय निर्भय बनो फिर अभयदान देने के योग्य बन सकोगे।

क्षत्रियकुमार की माता ने भोजन बनाया। क्षत्रियकुमार ने और उसके पिता का घात करने वाले क्षत्रिय ने साथ बैठकर भोजन किया। कदाचित् क्षत्रियकुमार उसे मार डालता, तो अधिक वैर बढता और वैर की वह परम्परा कौन जाने कहाँ तक चलती और कब समाप्त होती। किन्तु क्रोध पर विजय प्राप्त करने से दोनों क्षत्रिय भाई-भाई हो गये।

तुम प्रवचन को माता मानते हो। तो जैसे क्षत्रियकुमार ने माता की आज्ञा शिरोधार्य की थी, उसी प्रकार तुम भी प्रवचन-माता की बात मानोगे या नहीं? प्रवचनमाता का आदेश यही है कि क्रोध को जीतो और निर्भय बनो। छुरा लेकर मारने के लिए कोई आवे तो भी तुम भयभीत मत बनो। कामदेव-श्रावक पर पिशाच ने तलवार का घाव करना चाहा था, फिर भी कामदेव निर्भय ही रहा। तुम धनवान् होने का बहाना करके छूटने का प्रयत्न नहीं कर सकते,

कहा—आप यह उचित नहीं कर रहे हैं। किन्तु राणा ने उन्हें उत्तर दिया—शत्रुओं का संहार करने वाले तो बहुत मिलेंगे मगर शरणागत शत्रु की रक्षा करने वाले विरले ही होंगे। शरणागतों की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है। मैं इस धर्म की उपेक्षा नहीं कर सकता।

शरणागत क्षत्रिय ने, क्षत्रियकुमार से कहा—'मैं आपके शरण आया हूँ।' यह शब्द सुनकर क्षत्रियकुमार उसे मार न सका। उसे उसने बाँध लिया और अपनी माता के पास ले आया। आकर माता से कहा—लो, यह मेरा शत्रु है। कहो, इसे क्या दण्ड दिया जाय? अपने पुत्र का पराक्रम देख माता की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने कहा—इसी से पूछ देखना चाहिए कि यह क्या दण्ड पसन्द करता है।

इस प्रकार कहकर माता ने अपने पति के घातक क्षत्रिय से पूछा—बोल, तुझे क्या दण्ड मिलना चाहिए? क्षत्रिय ने उत्तर दिया—माँ, शरणागत को जो दण्ड देना उचित हो, वही दण्ड मुझे दीजिए।

यह उत्तर सुनकर माता ने कहा—बेटा, अब इसे मत मारो। इसने मुझे माँ कहा है। अब यह मेरा बेटा और तेरा भाई बन गया है। यह शरणागत है। अब इसे छोड़ दे। मैं जल्दी भोजन बनाती हूँ सो तुम दोनों भाई साथ बैठकर भोजन करो।

पुत्र ने कहा—माँ, तुमने मुझे उत्तेजित किया है। मेरा क्रोध भड़का हुआ है। वह शान्त होना नहीं चाहता। अब मैं अपने क्रोध को किस प्रकार सफल करूँ?

माता ने उत्तर दिया—क्रोध को सफल करने में कोई वीरता नहीं है। सच्ची वीरता तो क्रोध को जीतने में है। दूसरे पर विजय

निन्दा से नहीं, मगर निन्दायोग्य कार्यों से ही घबराता है, वही अशुभ योग में से निकलकर शुभ योग में प्रवृत्त होता है।

अपने दोषों को गुरु के समक्ष प्रकट कर देना गर्हा है। गर्हा किस प्रकार की होनी चाहिए, इस विषय की व्याख्या स्थानांगसूत्र में की गई है। गर्हा का स्वरूप बतलाते हुए श्रीस्थानांगसूत्र में, द्वितीय स्थान में, दो प्रकार की गर्हा बतलाई गई है और तृतीय स्थान में तीन प्रकार की कही गई है। दूसरे स्थान (ठाणा) मे कहा है—

दुविहे गरिहा पन्नत्ते, तंजहा—मणसावेगे गरिहइ, वयसा वेगे गरिहइ, अहवा दुविहे गरिहा पन्नत्ते, तंजहा—दीहमद्धमेगे गरिहइ, रहसमद्धमेगे गरिहइ ॥

अर्थात्—गर्हा दो प्रकार की है—मन से की जाने वाली गर्हा और वचन से की जाने वाली गर्हा। परन्तु दोनों को साथ करके की जाने वाली गर्हा पूर्ण गर्हा है। अन्यथा गर्हा के चार भंग हो जाते हैं। वह इस प्रकार—

(१) मन से गर्हा करना वचन से न करना

(२) वचन से गर्हा करना मन से न करना

(३) मन से भी गर्हा करना वचन से भी करना

(४) मन से भी गर्हा न करना वचन से भी न करना। (यह भंग शून्य है)

कभी-कभी वचन से तो गर्हा नहीं होती किन्तु मन से गर्हा हो जाती है। जैसे—प्रसन्नचन्द्र राजर्षि नीची स्थिति में जाने के योग्य विचार कर रहे थे। उसी समय उनका हाथ अपने मस्तक पर

क्योंकि कामदेव गरीब श्रावक नहीं था। वह अठारह करोड़ मोहरों का स्वामी था; उसके साठ हजार गौएँ थीं। फिर भी वह निर्भय रहा। तुम भी इसी प्रकार निर्भय बनो। निर्भय होने पर तलवार, विष या अग्नि वगैरह कोई भी वस्तु तुम्हारा बाल बांका न कर सकेगी। वास्तव में दूसरी कोई भी वस्तु तुम्हारा बिगाड़ नहीं कर सकती, सिर्फ तुम्हारे भीतर पैठा हुआ भय ही तुम्हारी हानि करता है। अपने आन्तरिक भय को जीतोगे तो अपने को अत्यन्त शक्तिशाली पाओगे।

कहने का आशय यह है कि क्रोध को जीतो और क्षमा धारण करो। साधारण अवस्था मे तो सभी क्षमाशील रहते हैं मगर क्रोध भड़कने पर क्षमा रखना ही वास्तव मे क्रोध को जीतना कहलाता है। कहावत है—

जी जी कर बतलावताँ, काना क्रोध न आय।
आढ़ा टेढ़ा बोलतां, खबर खमानो थाय॥

जो निन्दा के भय से डरता नहीं है, वही क्रोध को जीत सकता है। भक्त तुकाराम कहते हैं—

तुका म्हणे भ्रण अवहेलति मम्म तरी केसीराज रखविति।

अर्थात्—हे प्रभो! जब मुझमें अपनी निंदा सहन करने की शक्ति आजायगी तभी मै तुम्हारा सच्चा भक्त समझा जाऊँगा।

इस प्रकार विचार कर भक्तजन निन्दा से भयभीत नहीं होते, वरन् निंदा सहन करने के लिए सशक्त और सहनशील बनते हैं। हाँ, वे नवीन निन्दनीय कार्य नहीं करते, मगर पहले के निंदनीय कार्यों के कारण होने वाली निन्दा से घबराते नहीं। इस प्रकार जो

ठगने के लिए की जाती है। पूर्वोक्त चतुर्भंगी में द्रव्यगर्हा दूसरे भंग में है।

तीसरे प्रकार की गर्हा मन से भी की जाती है और वचन से भी की जाती है। चौथी गर्हा शून्यरूप है। यह गर्हा न मन से की जाती है, न वचन से ही की जाती है।

इस प्रकार स्थानांगसूत्र के दूसरे ठाणे में गर्हा के दो भेद किये गये हैं। एक गर्हा वह जो मन से की जाती है और दूसरी गर्हा वह जो वचन से की जाती है। अथवा पहली गर्हा वह है जो दीर्घकाल के कार्यों की न की जाकर निकटकाल के कार्यों की की जाय; और दूसरी गर्हा वह जो निकटकाल के कार्यों की न की जाकर दीर्घकालीन कार्यों की की जाय। या दीर्घकार्य की गर्हा की जाय और लघु (सामान्य) कार्य की गर्हा न की जाय।

कौनसे कार्य दीर्घ और कौन से लघु हैं, यह वर्गीकरण करना कठिन है। अनुभवी पुरुष ही विशेषरूप से स्पष्टीकरण कर सकते हैं। किन्तु वास्तव में गर्हा सभी पापों की करनी चाहिए, फिर चाहे वह दीर्घकालीन हो या निकटकालीन हो, मोटा पाप हो या छोटा पाप हो।

तीसरे ठाणे में गर्हा के तीन भेद बतलाते हुए कहा गया है-

तिविहे गरिहा पन्नत्ते, तंजहा–मणसा, वयसा, कायसा।

अर्थात्—गर्हा तीन प्रकार की है—मन से की जाने वाली, वचन से की जाने वाली और काय से की जाने वाली। अथवा मन द्वारा किये कार्यों की गर्हा करना, वचन द्वारा किये कार्यों की गर्हा करना और काय द्वारा कृत कार्यों की गर्हा करना। यद्यपि गर्हा के

जा पहुँचा। मस्तक पर मुकुट न पाकर उन्होंने मन ही मन ऐसी गर्हा की कि उसी समय केवली हो गये। इस प्रकार एक गर्हा ऐसी होती है जो वचन से तो नहीं होती, सिर्फ मन से होती है। दूसरी गर्हा ऐसी होती है जो मन से नहीं की जाती, सिर्फ वचन से की जाती है। ऐसी गर्हा द्रव्यगर्हा कहलाती है। वचन मे न होकर भी मन से होने वाली गर्हा तो ठीक है, मगर मन से गर्हा न करके केवल वचन से कह देना कि 'मुझसे अमुक दुष्कर्म हो गया है, एक प्रकार का दंभ ही है। मन में जुदा भाव रखना और वचन से गर्हा करना द्रव्यगर्हा है, जो दूसरों को ठगने के लिए की जाती है। दूसरों को ठगने के लिए की जाने वाली द्रव्यगर्हा के अनेक उदाहरण शास्त्रकारों ने बतलाये हैं।

कल्पना कीजिए, कोई पुरुष मर गया है। उसका किसी दूसरी स्त्री के साथ अनुचित सम्बन्ध था। जब मृत पुरुष की लाश उस स्त्री के घर के सामने होकर निकली तो वह अपना रुदन न रोक सकी। मगर साधारण रीति से रोए तो लोगों को शंका हो कि यह स्त्री इस पुरुष के लिए क्यों रोई? इसका मृत पुरुष के साथ क्या सम्बन्ध था? इस प्रकार की निन्दा से बच जाय और रो भी ले, ऐसा उपाय खोजकर उस स्त्री ने अपने हाथ के कड़े नीचे फैंक दिये और 'मेरे कड़े गिर पड़े' कह-कहकर जोर-जोर से रोने लगी। वास्तव में उसे अपने जार के लिए रोना था, मगर वह कड़ो का बहाना करके रोने लगी। क्या यह कहा जा सकता है कि उसका रुदन कड़ों के लिए है? कड़ा तो रोने का बहाना भर थे।

इस प्रकार भीतर कुछ और भाव रखना तथा वचन द्वारा यह प्रकट करना कि 'मुझसे अमुक खराब काम हो गया, इसके लिए मुझे दुःख है,' यह द्रव्यगर्हा है। यह द्रव्यगर्हा ढोंग है और लोगों को

करते हुए विचार करता है कि मेरी आत्मा ने कैसा नीच कृत्य किया है!

जिस मनुष्य को सवारी के लिए हाथी उपलब्ध है, वह हाथी को छोड़कर यदि गधे पर सवार होता है तो मूर्ख ही कहा जायगा। इसी प्रकार आत्मा को विचारना चाहिए कि-'हे आत्मन्! तुझे हाथी पर बैठने के समान शरीर मिला है, तथापि तू गधे पर बैठने के समान नीच कृत्य क्यों करता है?' इस प्रकार विचार करने से सच्ची गर्हा करने की भावना का उदय होगा और उसी समय आत्मा में लघुता भी आएगी। ज्यों-ज्यों आत्मा में लघुता आएगी, त्यो त्यो आत्मा परमात्मा के समीप पहुँचता जायगा।

मैंने जिन ग्रन्थों का अवलोकन किया है, उन सब में प्रायः यही कहा गया है कि आत्मा का मूल स्वरूप कैसा है लेकिन वह कैसी स्थिति में आ पड़ा है? आत्मा को कितनी अनुकूल सामग्री उपलब्ध है, लेकिन आत्मा उसका कैसा उपयोग कर रही है! आत्मा का यह कार्य बड़ा ही विपरीत है। राजा ने प्रसन्न होकर किसी को उच्चकोटि की गजवेल की तलवार भेट की। मगर भेट लेने वाला ऐसा मूर्ख निकला कि उस तलवार से घास काटने लगा। क्या उसका यह कार्य तलवार का दुरुपयोग करना नहीं है? इसी प्रकार आत्मा को यह मानव-शरीर ऐसा मिला है जो ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। तीर्थङ्कर-अवतार आदि समस्त पुरुष इसी शरीर में हुए हैं। ऐसा उत्कृष्ट शरीर पाकर भी यदि विषयकषाय में इसका उपयोग किया गया तो अन्त में पश्चात्ताप करना पड़ेगा। जो मनुष्य जन्म का माहात्म्य समझेगा और आत्मकल्याण साधना चाहेगा, वह सच्चे हृदय से गर्हा किये विना रह ही नहीं सकता।

यह तीन भेद बतलाये गये है तथापि यह नहीं भूलना चाहिए कि पूर्ण गर्हा वही है जो मन, वचन और काय—तीनों के द्वारा की जाती है। गर्हा करने का उद्देश्य है—

पावाणं कम्माणं अकरणयाए।

अर्थात्—पुनः पापकर्म न करने के उद्देश्य से गर्हा की जाती है। इसीलिए पाप का प्रकाशन किया जाता है कि पाप के कारण निंदा हो और भविष्य में फिर कभी वह पाप न किया जाय। यही गर्हा का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती है जब मन, वचन और काय—तीनों योगों से गर्हा की जाय।

तात्पर्य यह है कि भविष्य मे पुनः पापकर्म मे प्रवृत्ति न हो, इस ध्येय की सिद्धि के लिए मन, वचन और काय से—तीनो से-गर्हा करना चाहिए।

कहा जा सकता है कि पापकर्मों की गर्हा मन से ही कर ली जाय तो काफी है। गुरु आदि के समक्ष गर्हा करने की क्या आवश्यकता है? ऐसा कहने वालो से यही कहा जा सकता है कि शास्त्र का वचन अगर प्रमाण मानते हो तो शास्त्र पर विश्वास रखकर, शास्त्र के कथनानुसार ही गर्हा करनी चाहिए। अगर तुम्हें शास्त्र पर ही विश्वास नही है तो फिर तुमसे कुछ कहना ही वृथा है। शास्त्र में निन्दा और गर्हा के बीच बहुत अन्तर बतलाया गया है। गर्हा लघुता प्रकट करने के लिए की जाती है। अगर कोई मनुष्य ऊपर से लघुता दिखलाता है मगर पाप का त्याग नहीं करता तो कहना चाहिए कि वह वास्तव में लघुता का प्रदर्शन नहीं करता वरन् ढोंग का ही प्रदर्शन करता है। जिसमे सच्ची लघुता होती है वह गर्हा

स्थिति भोग चुका है। फिर भी उसका स्वरूप ज्यों का त्यों है। गीता कहती है, आत्मा का नाश नहीं होता। आत्मा ऐसी ज्योति है जो कभी बुझती नहीं। किसी दिन उसका नाश नहीं हुआ, होगा भी नहीं। आत्मा अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है। बहुतसी वस्तुएँ ऐसी भी हैं जो नित्य होने पर भी आज किसी रूप में हैं और कल किसी और रूप में होंगी। मगर शुद्धसंग्रह नय की दृष्टि से आत्मा सदैव एक स्वभाव में रहता है। इस प्रकार आत्मा शाश्वत है और साथ ही पुरातन अर्थात् सनातन है।

इस सनातन आत्मा को मामूली बात के लिए पतित करना कितनी भयंकर भूल है? इस भूल के संशोधन का एक कारगर उपाय गर्हा करना है। सच्ची गर्हा करने से आत्मोन्नति होती ही है, क्योंकि गर्हा आत्मोन्नति और आत्मशुद्धि का प्रधान कारण है। सच्ची गर्हा करने वाला पुरुष आत्मा को कभी पतित नहीं होने देता। चाहे जैसा भयानक संकट आ पड़े, फिर भी आत्मा को पतित न होने देना ही सच्ची गर्हा का अवश्यम्भावी फल है।

राजा हरिश्चन्द्र का राजपाट वगैरह सब चला गया। उसने इन सब चीज़ों को प्रसन्नतापूर्वक जाने दिया, मगर आत्मा को पतन से बचाने के लिए सत्य न जाने दिया। आखिर उस पर इतना भयकर संकट आ पड़ा कि एक ओर मृत पुत्र सामने पड़ा है और दूसरी ओर उसकी पत्नी दीन वाणी में कहती है कि पुत्र का संस्कार करना आपका कर्त्तव्य है। यह आपका पुत्र है। आप इसका संस्कार न करेंगे तो कौन करेगा? पत्नी के इस प्रकार कहने पर भी हरिश्चन्द्र ने यही उत्तर दिया कि मेरे पास इसका संस्कार करने की कोई सामग्री नहीं है!

मेरी ऐसी धारणा है कि यदि मनुष्य अपने सुबह से शाम तक के काम किसी विश्वस्त मनुष्य के समक्ष प्रकट कर दिया करे तो उसके विचारों और कार्यों मे बहुत प्रशस्तता आ जायगी। गृहस्थों को और कोई न मिले तो पति-पत्नी आपस में ही अपने-अपने कार्य एक दूसरे पर प्रकट कर दिया करें तो उन्हें अवश्य लाभ होगा। अपने कृत्य प्रकाशित करने से विचारो का आदान-प्रदान होता है और दोषो की शुद्धि होने से जीवन उन्नत बनता है।

गर्हा जीवनशुद्धि की कुंजी है। भगवान् ने कहा है कि गर्हा करने से आत्मा पवित्र बनती है। गर्हा से आत्मा किसी भी अवस्था में पतित नहीं होती वरन् उन्नत ही होती है। आत्मा के पतन का कारण शारीरिक मोह है। आत्मा को शारीरिक मोह में फँसाकर गिराना उचित नहीं है। आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा अमर और अविनाशी है, जब कि शरीर नाशवान् है। गीता में भी कहा है—

न जायते म्रियते वा कदाचित्,
नायं भुक्त्वा भविता वा न अन्यः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो—
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

अर्थात्—शरीर ही जनमता और मरता है। आत्मा न जनमता है, न मरता है। आत्मा तो अजर और अमर है।

जैनशास्त्र की दृष्टि से भी आत्मा अनादिकाल से है। अनन्तकाल व्यतीत हो जाने पर भी आत्मा जैसा का तैसा है। आत्मा नरक में जाकर न मालूम कितनी बार तेतीस सागर की

पालन करने के लिए कितना त्याग सीखने की आवश्यकता है! नाशशील शरीर के लिए तो थोड़ा-बहुत त्याग किया जाता है किन्तु अजर-अमर आत्मा के लिए तनिक भी त्याग करते नहीं बन पड़ता! यह कितनी भयानक भूल है।

हरिश्चन्द्र का कथन सुनकर रानी बोली—'वास्तव में आपका कहना ठीक है। सत्य का त्याग करना कदापि उचित नहीं है, परन्तु पुत्र का शव यों ही पड़ा रहने देना और उसका संस्कार न करना भी क्या उचित है?'

राजा ने उत्तर दिया—'जो होनहार होगा, होगा। परन्तु शव के संस्कार के लिए सत्य का घात करना उचित नहीं। सत्य सबसे श्रेष्ठ है, इसलिए सर्वप्रथम सत्य की ही रक्षा करनी चाहिए।'

कतिपय लोग कह देते हैं—'क्या किया जाय, अमुक ऐसा कारण उपस्थित हो गया कि उस समय सत्य का पालन करना अत्यन्त कठिन था। किसी भी युक्ति से उस समय काम निकालना आवश्यक था।' इस प्रकार कहकर लोग सत्य की उपेक्षा करते हैं। किन्तु ज्ञानी जनो का कथन है कि सत्य पर विश्वास रखने से तुम्हारे भीतर अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव होगा और उस दशा में तुम्हारा कोई भी कार्य अटका नहीं रहेगा। शास्त्र में कहा ही है—

देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।

सत्य का निरन्तर पालन करने से देवता भी तुम्हारी सेवा मे उपस्थित होंगे। मगर आज तो यह कहा जाता है—

देव गया द्वारिका, पीर गया मक्का।
अंगरेजों के राज्य में, ढेढ़ मारे धक्का।

हरिश्चन्द्र की पत्नी तारा ने कहा—अग्निसंस्कार करने के लिए और क्या सामग्री चाहिए ? लक्कड सामने पड़े ही हैं। फिर अग्निसंस्कार करने मे विलंब की क्या आवश्यकता है ?

हरिश्चन्द्र ने उत्तर दिया—तुम ठीक कहती हो, पर यह लक्कड़ मेरे नहीं, स्वामी के हैं। स्वामी की आज्ञा है कि कर देने वाले को ही लकड़ियाँ दी जाएँ। अतएव यह लकड़ियाँ विना मोल नहीं मिल सकती।

यह सुनकर तारा बोली—आपका कथन सत्य है; पर आप एक टके का कर किससे माँग रहे हैं ? क्या मै आपकी पत्नी नही हूँ ? इस समय मेरे पास एक भी टका नही है।

राजा ने कहा—रानी ! पुत्रवियोग के कारण तुम मोह में पड़ गई हो। तुम अपने ध्येय को भी भूली जा रही हो। विचार करो, तुम कौन हो ? तुम एक राज्य की महारानी हो, फिर भी केवल सत्य का पालन करने के लिए ही दूसरे के घर की दासी बनी हो। तुम मुझे स्वामी कहती हो सो मै पूछता हूँ कि मेरी हड्डियो को स्वामी कहती हो या आत्मा को ? तुम भलीभाँति जानती हो कि जो पुरुष एक दिन प्रतापशाली राजा था और जिस ओर नजर फेरता था उसी ओर लक्ष्मी विलास करने लगती थी, वह राजा सत्य के लिए ही दूसरे का दीन दास बना है। जिस सत्य का पालन करने के लिए मैंने और तुमने इतने कष्ट उठाये हैं, क्या आज उसी सत्य का परित्याग कर देना उचित है ? अगर मैं कर वसूल किये विना, स्वामी की आज्ञा के विरुद्ध लकड़ियाँ दे दूं और पुत्र का अग्निसंस्कार कर डालूँ तो सत्य का विघात होगा या नहीं ?

राजा हरिश्चन्द्र का यह सत्याग्रह सच्ची गर्हा का स्वरूप स्पष्ट करता है। आज तुम्हे भी विचार करना चाहिए कि सत्य का

नहीं रखते। अगर कुछ ध्यान देते भी हैं तो बस उतना ही जिससे उनके स्वार्थ में बाधा न आवे। गरीबों पर दया रखकर वे उनके हित के लिए कुछ भी नहीं करते। प्रायः यन्त्रवादी लोगों में गरीबों के प्रति दया होती ही नहीं। ऐसी दशा में तुम चर्बी वाले मिल के वस्त्र पहनकर गरीबों का दुःख क्यों बढ़ाते हो? एक बार मिल के और खादी के कपड़ों की तुलना करके देखो तो मालूम होगा कि दोनो मे कितना अधिक अन्तर है। यह अन्तर जान लेने के बाद अहिंसा की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से और आर्थिकदृष्टि से खादी अपनाने की इच्छा हुए विना नहीं रहेगी।

गरीबों पर दया करने के लिए ही गांधीजी ने अधिक वस्त्र पहनना त्याग दिया है। उन्होंने वस्त्रों की मर्यादा बाँध ली है और मर्यादित वस्त्रो से ही अपना काम चलाते हैं। वस्तुतः इस उष्ण देश में अधिक वस्त्रो की आवश्यकता भी नहीं है। वस्त्र मुख्यरूप से लज्जा की रक्षा करने के लिए ही हैं। अगर इसी दृष्टि से वस्त्रों का उपयोग किया जाय तो वहुत लाभ होगा। इस देश मे यद्यपि थोड़े ही वस्त्रों से काम चल सकता है, फिर भी यहाँ के लोग एक-दूसरे के ऊपर, कम से कम तीन वस्त्र तो प्रायः पहनते ही हैं। तीन से कम वस्त्र पहनना फैशन के खिलाफ समझा जाता है। ठूंस ठूंस कर पहने हुए वस्त्रों के कारण भले ही पसीना हो और वह भीतर ही सूखकर शरीर को हानि पहुँचाए, मगर तीन से कम वस्त्र पहनना तो फैशन के विरुद्ध ठहरा!

तुम्हें देखना चाहिए कि तुम्हारे गुरु किस प्रकार रहते हैं। हम तुम्हारे वीच मे वैठे है, इसी कारण लज्जा की रक्षा के लिए हमें वस्त्र ओढ़ना पड़ता है। अगर हम जंगल में जाकर, एकान्त में वैठें तो हमें वस्त्र की आवश्यकता ही न रहे। तुम लोग ऐसे त्यागी

अर्थात्—आजकल कलियुग चल रहा है। देव भी न जानें कहाँ विलीन हो गये हैं !

मगर देवों को देखने से पहले अपनी आत्मा को क्यों नहीं देखते ? तुम्हारे हृदय के भाव देखकर ही देव आ सकते हैं। तुम में धर्म होगा तो देव अपने आप आ जाएँगे। अतएव धर्म को अपनाओ—हृदय में धर्म को स्थान दो।

रानी ने राजा से कहा—पुत्र के शव का संस्कार करने का एक उपाय है। उस उपाय से पुत्र के शव का अग्निसंस्कार भी हो जायगा और सत्य की रक्षा भी हो जायगी। राजा के पूछने पर रानी ने उपाय बतलाया—मैंने जो साड़ी पहन रक्खी है, उसमें से आधी साड़ी से अपनी लाज बचा लूँगी और आधी आपको कर के रूप में दे देती हूँ। आप आधी साड़ी लेकर पुत्र का संस्कार कीजिए।

राजा ने यह उपाय स्वीकार किया। कहा—ठीक है, इससे दोनों कार्य सिद्ध किये जा सकते है।

रानी इस विचार से बड़ी प्रसन्न थी कि इस उपाय से मेरे और मेरे पति के सत्य की रक्षा भी हो जायगी और पुत्र का अग्नि-संस्कार भी हो जायगा। रानी मे उस समय ऐसा वीररस आया कि वह तत्काल ही अपनी आधी साड़ी फाड़ देने को तैयार हुई।

महारानी तारा तो सत्यधर्म की रक्षा के लिए अपनी आधी साड़ी फाड़ देने को तैयार है पर आप अपने धर्म की रक्षा के लिए और अहिंसा का पालन करने के लिए चर्बी वाले वस्त्र भी नहीं तज सकते ! तुम्हे गरीब प्राणियों पर इतनी भी दया नहीं आती ! चर्बी वाले वस्त्र पहनने से उन्हे कितना दुःख सहन करना पड़ता है ? मालूम हुआ है कि यंत्रवादी लोग गरीब मजदूरों के हित का ध्यान

१२

आठवाँ बोल ।

सामायिक



पिछले प्रकरण में गर्हा का विवेचन किया गया है। गर्हा का विषय इतना गम्भीर है कि उसकी विस्तृत व्याख्या करने में महीनों और वर्ष भी लग सकते हैं। मगर इतने अवकाश के अभाव मे उसे संक्षेप में ही समाप्त किया गया है। गर्हा के विषय में जो कुछ भी कहा गया है, उसका सार यही है कि बालक अपने माता-पिता के सामने जैसे निःसंकोचभाव से सभी बातें कह देता है, उसी प्रकार गुरु आदि के समक्ष अपने समस्त पापों-दोषो को निवेदन कर देना चाहिए। यही सच्ची गर्हा है। सच्ची गर्हा करने से अभिमान पर विजय प्राप्त होती है। बारीकी से अपने दोषों को निरीक्षण करने वाला और उन्हें गुरु वगैरह के समक्ष प्रकट कर देने वाला आत्मबली ही अभिमान को जीत सकता है। इस प्रकार अहंकार को जीतने वाला अपनी आत्मा का कल्याण-साधन करता है।

समभाव के अभाव में सच्ची गर्हा नहीं हो सकती। अतएव समभाव के विषय में भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है :—

गुरुओं के उपासक होते हुए भी चर्बी लगे वस्त्रो तक का त्याग नहीं कर सकते, यह कितनी अनुचित बात है !'

रानी ने वीरता के आवेश में अपनी आधी साड़ी फाड़ डाली। रानी ने अपनी साडी क्या फाड़ी, मानो अपने कष्ट ही फाड कर फैक दिये। उसकी साड़ी के तार क्या टूटे, मानो उसका तीव्र अन्तरायकर्म ही टूट गया !

रानी को इस प्रकार साड़ी फाड़ते देखकर राजा को दुःख हुआ। उसने सोचा—मेरी पत्नी के पास एक ही साड़ी थी और वह भी आधी दे देनी पड़ी ! लेकिन दूसरे ही क्षण यह विचार कर प्रसन्नता भी हुई कि ऐसा करने से हमारे सत्य की रक्षा हुई है ! अन्त में राजा-रानी का कष्ट दूर हुआ और उनके सत्य की भी रक्षा हुई।

कहने का आशय यह है कि संकट सिर पर आने पर भी अपने आपको पतित न होने देना चाहिए। सत्यधर्म की ऐसी दृढ़ता जिसमें होगी, वही सच्ची गर्हा कर सकेगा।

नहीं आ सकता, लेकिन अभ्यास करते रहने से जीवन में समभाव का आना कठिन भी नहीं है।

कहा जा सकता है कि—'ऐसा समभाव लेकर बैठें तो पेट भी नहीं भर सकता और आखिर भूखों मर कर प्राण गँवाने पड़ेंगे। संसार-व्यवहार चलाने के लिए छल-कपट करना आवश्यक है और जिसमें जितना बल और साहस हो, उसे उतना ही अधिक छल-कपट करना चाहिए। ऐसा न करके, समभाव को छाती से चिपटा कर बैठ रहें तो जीवन कष्टमय बन जायगा।'

इस कथन के उत्तर में ज्ञानी जन कहते हैं—समभाव धारण करने से जीवन कष्टमय बनता ही नहीं है। विषमभाव से ही कष्टों की सृष्टि होती है। बहुतसे लोगों की यह मान्यता है कि 'वलीया के दो भाग,' वाली नीति रखने से ही जीवन-व्यवहार ठीक-ठीक चल सकता है। परन्तु ज्ञानी पुरुषों का कथन इससे विपरीत है। उनके कथनानुसार समभाव धारण करने से ही जीवन-व्यवहार भली-भाँति चलता है।

इस प्रकार दोनों प्रकार के लोग अपनी-अपनी मान्यता प्रकट करते हैं। इस कारण प्रकृत विषय मतभेद का विषय बन जाता है। मगर तटस्थभाव से विचार करने पर अन्त में यही प्रतीत होता है कि ज्ञानी पुरुषों का कथन ही ठीक है।

इस बात का निर्णय करने के लिए आप यह विचार कीजिए कि दुनिया का काम पढ़े-लिखे लोगों से चल रहा है या अपढ़ लोगों से? अगर पढ़े-लिखे लोगों से ही काम चलता हो तो दुनिया में पढ़े-लिखे अधिक हैं या अपढ़ लोग अधिक हैं? और अगर सभी लोग पढ़ लिख जाएँ तो दुनिया का काम ठीक तरह चल सकेगा? नहीं,

मूलपाठ

प्रश्न—सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! सामायिक से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—सामायिक करने से सावद्य योग से निवृत्ति होती है।

व्याख्यान

यहाँ संक्षेप मे सामायिक का फल बतलाया गया है। अन्य ग्रन्थों में इसका बहुत कुछ विस्तार भी पाया जाता है। विशेषावश्यक भाष्य में सामायिक के विषय मे बारह हजार श्लोक लिखे गये हैं।

सामायिक समस्त धर्मक्रियाओ का आधार है। जैसे आकाश सभी के लिए आधारभूत है, चाहे कोई गृह बनाकर गृहाकाश कहे या मठ बनाकर मठाकाश कहे, मगर आकाश है सब के लिए आधारभूत; इसी प्रकार सामायिक भी समस्त धार्मिक गुणों का आधार है। सामायिक आधार है और दूसरे गुण सब आधेय हैं। आधार के विना आधेय टिक नही सकता। इस नियम के अनुसार सामायिक के अभाव मे अन्य गुण भी नहीं टिक सकते। जैसे पृथ्वी के आधार विना कोई वस्तु नहीं टिक सकती और आकाश के आधार विना पृथ्वी नहीं टिक सकती, इसी प्रकार सामायिक का आश्रय पाये विना दूसरे गुण नही टिकते।

'सम' और 'आय' इन दो शब्दों के संयोग से 'सामायिक' शब्द बना है। अर्थात् समभाव का आना ही सामायिक है। अपनी आत्मा जिस दृष्टि से देखी जाती है उसी दृष्टि से दूसरों को आत्मा को देखना समभाव कहलाता है। इस प्रकार का समभाव एकदम

यह सभी कहते हैं। लेकिन क्या वह अपने बच्चों के लिए भी क्रूर है? क्या वह अपने बच्चो पर समभाव नहीं रखती? वह अपने बच्चों पर समभाव न रखती और उनके साथ भी क्रूरता का ही व्यवहार करती तो आज उसकी जाति का अस्तित्व होता? इस प्रकार संसार में सर्वत्र समभाव की मात्रा पाई जाती है और समभाव के कारण ही संसार का अस्तित्व है। यों प्रत्येक प्राणी में न्यूनाधिक समभाव पाया ही जाता है परन्तु ज्ञानी पुरुष समभाव पर ज्ञान का कलश चढ़ाना चाहते हैं। ज्ञानपूवक समभाव ही सामायिक है।

आप लोग सामायिक में बैठते हैं पर उस समय आपका प्राणीमात्र पर समभाव रहता है या नहीं? आप सामायिक मे बैठे हों। उसी समय कोई व्यक्ति आकर आपके कानों में से मोती निकाल ले जाय तो आप चिल्लाहट मचायेंगे? उस समय आपको विचारना चाहिए—मोती ले जाने वाला बेचारा दुःखी होगा। उसे उसकी आवश्यकता होगी, इसलिए वह ले गया है। इस प्रकार विचार करके आप मोती ले जाने पर क्रोध न करें तो समझना चाहिए कि आप मे समभाव है। ऐसी अवस्था प्राप्त कर लेने पर ही आपकी सच्ची सामायिक होगी। यही नहीं, कोई पुरुष शरीर पर आघात करने आवे, फिर भी उस पर विषमभाव उत्पन्न न होना सामायिक की कसौटी है। कदाचित् कोई सहसा इस उच्च स्थिति पर न पहुँच सके तो भी लक्ष्य तो यही होना चाहिए। सैनिक एकदम सही निशाना लगाना नहीं सीख लेता, मगर वह सावधान होकर अभ्यास करता है और अन्त में सफल निशानेबाज बन जाता है, इसी प्रकार जीवनसिद्धि का लक्ष्य साधने के लिए समभाव का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए। सैनिक अभ्यास करते-करते बहुत बार निशाना चूक जाता है, फिर भी उसका ध्यान तो

तो क्या पढ़ना बुरी बात है ? दुनिया में अपढ़ अधिक हैं और अपढ़ों द्वारा ही दुनिया का काम चलता है, ऐसा विचार करके क्या कोई पढ़ना छोड़ देता है ? संसार में गरीबों की संख्या ज्यादा है, इस विचार से क्या कोई अपने पास का पैसा फैंक देता है ? रोगियों की संख्या अधिक जानकर कोई स्वयं रोगी बनने की इच्छा करता है ?

संसार में रोगी भले ही अधिक हों, लेकिन कोई स्वेच्छा से रोगी नहीं बनना चाहता। कभी रोग उत्पन्न हो जाता है तो उसे मिटाने का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार दुनिया में विषमभाव भी है। मगर विषमभाव अच्छा है या बुरा ? जैसे रोग बुरा है उसी प्रकार विषमभाव बुरा है। विषमभाव रोग के समान है और समभाव आरोग्यता के समान है। विषमभाव का रोग समभाव द्वारा ही मिटता है।

जो लोग कहते हैं कि समभाव से संसार का काम नहीं चल सकता, उन्हे सोचना चाहिए कि जब वे दुधमुँहे बालक थे और अपने आप खा-पी नहीं सकते थे, चल फिर भी नहीं सकते थे, तब उनके माता पिता ने उन्हे आत्मतुल्य न मानकर उनकी रक्षा न की होती, तो क्या आज वह जीवित होते ? इस प्रकार तुम्हारा जीवन समभाव की कृपा से ही टिका हुआ है। ऐसी दशा में कृतघ्न होकर क्यों कहते हो कि समभाव से काम नहीं चल सकता और विषमभाव से ही काम चल सकता है !

कोई कितना ही क्रूर क्यों न हो, उसमें भी किसी न किसी रूप में, थोड़ी-बहुत मात्रा में, समभाव विद्यमान रहता है और उस समभाव की बदौलत ही उसका तथा उसकी जाति का अस्तित्व है। उदाहरणार्थ सिंहनी को लीजिए। सिंहनी क्रूर स्वभाव वाली है,

जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे ।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥
जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ।
तस्स सामाइअं होइ, इइ केवलिभासियं ॥

इन गाथाओं का आशय यह है कि समभाव से बर्त्तने वाले के ही तप-नियम-संयम आदि सफल होते हैं। समभाव के अभाव में तप और नियम आदि सफल नहीं होते। तप करना और दूसरों को कष्ट देना, संयम लिया मगर दूसरों पर हुकूमत चलाई, तो यह तप और संयम समभावविहीन है। तप-संयम की सच्ची सफलता सम-भाव की विद्यमानता में ही है।

सामायिक की अवस्था में आक्रमणकारी पर भी क्रोध नहीं आना चाहिए। क्रोध न आवे तो समझ लीजिए कि मैं भगवान् के कथनानुसार समभाव का पालन कर रहा हूँ। इसके विरुद्ध अगर क्रोध भड़क उठता है तो ज्ञानी कहते हैं—अभी तुझमें संयम नहीं आया क्योंकि तू समभाव से दूर है। संयम तो समभावपूर्वक ही होता है। समभाव के अभाव से संयम टिक ही नहीं सकता। इस प्रकार सामायिक करते समय क्रोध भी नहीं करना चाहिए और प्रतिष्ठा मिलने पर अभिमान भी नहीं करना चाहिए। जब कोई नमस्कार करे तो समझना चाहिए कि यह नमस्कार मुझे नहीं, मेरे समभाव को है। अतएव मुझे तो समभाव ही की रक्षा करना चाहिए। अहंभाव, समभाव के विरुद्ध है अतएव अहंभाव का तो त्याग करना ही चाहिए। जब मन में अहंभाव आवे तो समझना चाहिए कि अभी तक मुझमें समभाव नहीं आया है।

लक्ष्य ताकने का ही होता है। इसी प्रकार जीवन में पूर्ण समभाव न उतारा जा सके तो भी लक्ष्य यही होना चाहिए और शनैः शनैः ही सही, पर उसी ओर अग्रसर होते जाना चाहिए। अभ्यास करते रहने से किसी दिन पूर्ण सामायिक प्राप्त होगी और जीवन समभाव-मय बन जायगा। सामायिक करते समय इतने समभाव का अभ्यास तो कर ही लेना चाहिए कि जब आप सामायिक मे बैठे हों और उस समय कोई आपको गालियाँ दे तो भी उस पर समभाव रह सके। आपके अन्तःकरण में इतना समभाव आ जाय तो आपको समझना चाहिए कि अब हमारा तीर निशाने पर लगने लगा है। इससे विपरीत, मुँहपत्ती बाँधते-बाँधते कानों में निशान पड़ जाएँ और सामायिक करते-करते वर्षों व्यतीत हो जाएँ, फिर भी जब आप सामायिक मे बैठें और कोई गाली दे तो आप समभाव न रख सकें तो समझना चाहिए कि आपका लक्ष्य कहीं है और आप तीर कहीं अन्य जगह मार रहे हैं। यहाँ तक जो कुछ कहा गया है वह देश-विरति सामायिक को लक्ष्य में रखकर ही कहा गया है। सर्वविरति सामायिक के लिए इससे भी अधिक समझना चाहिए। सर्वविरति सामायिक में पूर्ण समभाव की आवश्यकता रहती है।

सामायिक अथवा समभाव का फल क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है कि सामायिक से समभाव की प्राप्ति होती है और समभाव से सावद्य योग से निवृत्ति होती है। मन, वचन और काय के योग से जो पाप होते हैं, वह सावद्य योग कहलाते हैं। यह सावद्य योग सामायिक से दूर हो जाता है।

सामायिक का फल बतलाते हुए अनुयोगद्वार सूत्र मे तथा अन्यत्र भी कहा गया है:—

इस गाथा में आये हुए 'सावज्ज' शब्द का 'सावर्ज्य' भी अर्थ होता है और 'सावद्य' भी। पापयुक्त कार्य सावद्य कहलाता है और गर्हित या निन्दित कार्य 'सावर्ज्य' कहा जाता है।

आर्य की व्याख्या करते हुए एक बार मैंने कहा था—

आरात सकलहेयधर्मेभ्य इति आर्यः।

अर्थात्—समस्त हेय धर्मों—पापकर्मों का त्याग करने वाला आर्य है। जो कार्य आर्य पुरुषो द्वारा त्यागे गये हैं अथवा उनके द्वारा जो निन्दित हैं, वे सब कार्य सावद्य हैं। श्रेष्ठ पुरुष कभी निंदित कार्य नहीं करते। जिन कार्यों से जगत् का कल्याण होता है वह श्रेष्ठ कार्य हैं और संसार का अहित करने वाले कार्य निन्दित कर्म हैं। सारा संसार जूआ खेलने लगे तो क्या संसार का अहित नहीं होगा? ऊपर से तो जूआ में अल्प आरम्भ दिखाई देता है परन्तु वास्तव में जूआ खेलना दुनिया के लिए अत्यन्त अहितकर है। इसी कारण शास्त्र मे उसे महाप्रमाद कहा है। इसी प्रकार संसार के समस्त मनुष्य अगर चोरी करने लगें तो दुनिया का काम कैसे चल सकता है? क्या उस स्थिति में संसार दुःखों से व्याप्त नहीं हो जायगा? इसी कारण ऐसे कृत्य निन्दित माने गये हैं। इसी तरह के और-और कार्य भी सावर्ज्य कार्य हैं। निंद्य कार्य त्याज्य ही हैं। अतएव निन्दित कार्यों का त्याग करके अनिन्दित कार्य करोगे तो समभाव की रक्षा होगी और आत्मकल्याण भी हो सकेगा। समभाव की रक्षा करने से सावद्य योग की निवृत्ति अवश्य होती है। अतएव सावद्य योग से निवृत्त होओ और समभाव की रक्षा करो। इसी में कल्याण है।

सावद्य योग से निवृत्त होने के लिए आत्मा को किसी आलम्बन की आवश्यकता रहती है। एक वस्तु से निवृत्त होने के

कहने का आशय यह है कि प्रत्येक कार्य में सामायिक की आवश्यकता है अर्थात् समभाव रखने की आवश्यकता है। समभाव के बिना किसी भी कार्य में और किसी भी स्थान पर शान्ति नहीं मिल सकती, फिर भले ही वह कार्य राजनितिक हो या सामाजिक हो। सामायिक होने पर ही सब कार्यों में शान्ति मिल सकती है। जिसमें समभाव होता है उसका हृदय माता के हृदय के समान बन जाता है। सामायिक करने से अर्थात् समभाव धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा ही है कि समभाव धारण करने से अर्थात् सामायिक करने से सावद्य योग दूर हो जाता है। और जिस सामायिक से सावद्य योग निवृत्त हो जाता है, वही सच्ची और सफल सामायिक है।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सामायिक करने से जिस सावद्य योग की निवृत्ति होती है, वह सावद्य योग क्या है? इस सम्बन्ध में कहा है—

कम्मं सावज्जं जं गरहियं ति कोहाईओ व चत्तारि।
सह तेहिं जो होउ जोगो पच्चक्खाणं भवइ तस्स॥

इस गाथा में सावद्य योग की व्याख्या की गई है। इसका भावार्थ यह है कि निन्दनीय कार्य सावद्य कहलाता है अथवा क्रोध, मान, माया और लोभ को सावद्य योग कहते हैं, क्योंकि समस्त निन्दनीय कर्म कषाय के अधीन होकर ही किये जाते हैं। निन्दनीय कर्मों का कारण कषाय है, अतः कारण में कार्य का उपचार करके कषाय भी सावद्य योग कहा गया है। इस सावद्य के साथ जो व्यापार (प्रवृत्ति) की जाती है, वह सावद्य योग कहलाती है। सावद्य योग का निषेध करना, सावद्य योग का प्रत्याख्यान कहलाता है।

नौवाँ बोल ।

चतुर्विंशतिस्तव



प्रश्न—चउव्वीसत्थएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ॥९॥

शब्दार्थ

प्रश्न—चौवीस जिनो की स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—चतुर्विंशतिस्तव से दर्शनविशुद्धि होती है।

व्याख्यान

भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौवीस तीर्थंकरों का स्तव करना, उनकी प्रार्थना करना या उनकी भक्ति करना चतुर्विंशतिस्तव कहलाता है। चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है ? यह प्रश्न पूछा गया है। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है कि चौवीस तीर्थंकरों की स्तुवि करने से दर्शन की विशुद्धि होती है।

लिए दूसरी वस्तु का अवलम्बन लेना जरूरी है। दूसरी का अवलम्बन लिए विना एक से निवृत्त होना कठिन है। उदाहरणार्थ— आप लोग शाकाहारी हैं इसलिए मांसाहार से बचे हुए हैं। अगर आपको शाकाहार प्राप्त न होता तो मांसाहार से बचना क्या संभव था ? इस प्रकार दूसरी वस्तु सामने उपस्थित हुए विना किसी का त्याग नहीं किया जा सकता। यद्यपि उपदेश तो निराहारी बनने का दिया जाता है परन्तु वह अवस्था सहसा प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव सर्वप्रथम मांसाहार से बचना आवश्यक है। मांसाहार से बचने का उपाय यही है कि शाकाहार प्रस्तुत हो। शाकाहार का अवलम्बन लेना भी मांसाहार छोड़ने का और धीरे-धीरे निराहारी बनने का एक मार्ग है। महारंभी वस्त्र का त्याग करने के लिए अल्पारंभी वस्त्र का आलम्बन लिया ही जाता है। इसी प्रकार जब सावद्य योग से निवृत्त होना हो तो निरवद्ययोग का अवलम्बन लेना आवश्यक हो जाता है। परमात्मा की प्रार्थना करना निरवद्य कार्य है। यह निरवद्य कार्य सावद्य योग का त्याग करने के लिए आलम्बनभूत है।

सावद्य योग से निवृत्त होने की इच्छा करने वाले को विचार करना चाहिए कि मुझे सावद्य योग से निवृत्त होने का उपदेश किसने दिया है ? अगर तीर्थङ्कर भगवान् ने यह उपदेश न दिया होता तो कौन जाने, सावद्य योग से निवृत्त होने की बात भी सुनाई देती या नहीं ? ऐसी अवस्था में जिन्होंने सावद्य योग से निवृत्त होने का उपदेश दिया है, उन चौवीस तीर्थङ्करों की प्रार्थना स्तुति करना आवश्यक है। सावद्य योग से निवृत्त होने के लिए यह एक आलंबन है। चौवीस तीर्थङ्करों की स्तुति करने से क्या लाभ होता है, इस प्रश्न का उत्तर अगले बोल मे दिया जायगा।

इस तरह की नामस्थापना को वन्दना भी नहीं कर सकते। हम अभेद निक्षेप को ही वन्दन करते हैं। भेद निक्षेप को हम स्वीकार तो करते हैं किन्तु अर्थक्रिया की सिद्धि तो अभेदनिक्षेप से ही हो सकती है और इसलिए अभेद को ही नमस्कार करते हैं।

अब द्रव्यतीर्थङ्कर की बात लीजिए। जो चौवीस तीर्थङ्कर हो चुके हैं, वे जब तक केवली नहीं हुए थे, वरन् राज्य अवस्था में थे, तब तक द्रव्यतीर्थङ्कर थे। ऐसे द्रव्यतीर्थङ्करों का स्तवन करना द्रव्यस्तवन है। हम द्रव्यतीर्थङ्कर को नमस्कार नहीं करते और न उनका स्तवन ही करते हैं, किन्तु जब उनमें तीर्थङ्कर के योग्य गुण प्रकट हो जाते हैं तभी उन्हे नमस्कार करते है और तभी उनका स्तवन करते हैं।

तीर्थङ्करों को किस प्रयोजन से नमस्कार किया जाता है अथवा उनका स्तवन किस लिए किया जाता है, यह बात प्रतिक्रमण में बोली ही जाती है—

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्स, चउवीसं पि केवली॥

अर्थात्—चौवीस तीर्थङ्कर भगवान लोक में उद्योत करने वाले हैं, मैं उनका स्तवन करता हूँ। ऐसा होने पर भी जब तक प्रकाश नहीं होता तब तक वह वस्तु दिखाई नहीं देती। प्रकाश होने पर ही वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई देती है। भगवान् पचास्तिकाय रूप लोक को प्रकाशित करने वाले हैं। हम लोग भगवान् के ज्ञान-प्रकाश से ही पंचास्तिकाय को जान पाते हैं।

श्रीभगवतीसूत्र में मंडूक श्रावक का प्रकरण आता है। उसमे कहा गया है कि मंडूक श्रावक को कालोदधि ने पूछा था—

तीर्थंकरों के स्तवन के अनेक भेद हैं। जैसे—नामस्तवन, स्थापनास्तवन, द्रव्यस्तवन, भावस्तवन, कालस्तवन, क्षेत्रस्तवन आदि। इन सब भेदों को स्फुट करने के लिए कुछ विवेचन करना आवश्यक है।

नामस्तवन के भी दो भेद हैं। एक भेद-नामस्तवन, दूसरा अभेद-नामस्तवन। भगवान् ऋषभदेव को ऋषभदेव कहना और भगवान् महावीर को महावीर कहना अभेद-नाम है। इस अभेद नाम का स्तवन करना अभेद-नामस्तवन कहलाता है। किसी एक जीव या एक अजीव अथवा किसी जीवाजीव, या अनेक जीवों अथवा अनेक अजीवों को तीर्थंकर का नाम देना भेद नाम कहलाता है। भेद नाम में और अभेद नाम में बहुत अन्तर है। अभेद नाम से उसी वस्तु का बोध होता है किन्तु भेद नाम से किसी भी वस्तु को, किसी भी नाम से संबोधन किया जा सकता है। जैसे रुपया को रुपया कहना अभेद नाम है लेकिन बालक का रुपया नाम रख देना भेद नाम है। भेद नाम से भेद जैसा और अभेद नाम से अभेद जैसा कार्य होता है। भेद नाम से अर्थक्रिया की सिद्धि नहीं होती और अभेद नाम से अर्थक्रिया सिद्ध होती है। थाली में भोजन के नाम से पत्थर जैसी कोई वस्तु रख दी जाय तो उससे क्षुधा शान्त नहीं होती, क्योंकि वह भोजन अभेद नाम नहीं वरन् भेद नाम है। भेद नाम वाले भोजन से भूख नहीं मिट सकती। इस प्रकार के भेद नाम से अर्थक्रिया की सिद्धि नहीं होती। अर्थक्रिया तो अभेद नाम से ही सिद्ध होती है। यह नामस्तवन की बात हुई।

इसी प्रकार तीर्थङ्करों का नाम लिखकर उन नामों में स्थापना की जाय या मूर्ति में उनकी स्थापना की जाय तो हम उसे भेदनिक्षेप से तो मानते हैं, मगर अभेद निक्षेप से नहीं मान सकते। इसी प्रकार

तुम अनन्त अरिहन्तों की अवलेहना करते। मगर तुमने जो उत्तर दिया, वह समीचीन है।

लोक-व्यवहार में भी अनुमान को प्रमाण मानना पड़ता है। अनुमान को प्रमाण माने विना व्यवहार में भी काम नहीं चल सकता। ऐसी स्थिति में धर्म के विषय में अनुमान प्रमाण क्यों न माना जाय ? नदी को देखकर प्रत्येक मनुष्य उसके उद्गम स्थान का अन्दाज़ लगाता है। आप सिर्फ नदी देख रहे हैं, उसका उद्गम-स्थान आपको दिखाई नहीं देता; फिर भी नदी देखने से उसका उद्गमस्थान मानना ही पड़ता है। इसी प्रकार एक भाग को देखने से दूसरा भाग भी मानना पड़ता है। इसी न्याय से सर्वज्ञ और वीतराग भगवान् ने जो कुछ कहा है उसे भी सत्य मानना चाहिए। तीर्थङ्कर भगवान् ने अपने ज्ञान-प्रकाश द्वारा देखकर ही प्रत्येक बात का प्ररूपण किया है, इसी कारण कहा गया है कि जो भगवान् तीन लोक में उद्योत करने वाले हैं, उन्हे मैं नमस्कार करता हूँ। इसी तरह जो अरिहन्त भगवान् धर्म की स्थापना करते है, उन्हें भी मैं नमस्कार करता हूँ। ऐसे अरिहन्त भगवान चौवीस हैं और वे सम्पूर्ण ज्ञान के स्वामी हैं।

चौवीस तीर्थङ्करो का स्तवन तो वहुतसे लोग करते हैं, किंतु स्तवन के गुण भलीभाँति समझकर स्तवन किया जाय तो सब प्रकार की शंकाएँ निर्मूल हो जाती हैं। चौवीस तीर्थङ्करो की स्तुति करने का फल बतलाते हुए भगवान् ने कहा है कि चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति करने से दर्शन की विशुद्धि होती है। इस कथन का आशय यह है कि चौवीस तीर्थङ्करों का स्तवन करने से स्तवन करने वाले का सम्यक्त्व इतना निर्मल हो जाता है कि देवता भी उसे सम्यक्त्व से विचलित नहीं कर सकते। अर्थात् उसका दर्शन अत्यन्त निर्मल

'तुम्हारे भगवान् महावीर पंचास्तिकाय का प्रतिपादन करते हैं। उनमें से चार को अरूपी और एक पुद्गल को रूपी कहते हैं। लेकिन अरूपी क्या तुम्हे दिखाई देता है?' मंडूक श्रावक ने इस प्रश्न का उत्तर दिया—'हम अरूपी को नहीं देख सकते।'

कालोदधि—जिस वस्तु को तुम देख नहीं सकते, उस पर श्रद्धा करना और उसे मानना कोरा पाखंड नहीं तो क्या है?

मंडूक—हे देवानुप्रिय! तुम्हारे कथन का आशय यह हुआ कि जो वस्तु देखी जा सके उसे ही मानना चाहिए; जो न देखी जा सके उसे नहीं मानना चाहिए। किन्तु मैं पूछता हूँ कि पवन, गन्ध और शब्द को तुम आँखों से देख सकते हो? समुद्र को एक किनारे पर खड़े होकर दूसरा किनारा देख सकते हो? अगर नहीं, तो क्या पवन, गन्ध, शब्द और दूसरे किनारे को नहीं मानना चाहिए? तुम्हारा पक्ष तो यही है कि जो वस्तु देखी न जा सके उसे मानना ही नहीं चाहिए।

मंडूक का यह युक्तिवाद सुनकर कालोदधि प्रभावित हुआ। वह सोचने लगा—भगवान् महावीर के गृहस्थ शिष्य इतने कुशल हैं तो स्वयं भगवान् कैसे होंगे?

मंडूक श्रावक जब भगवान् महावीर के पास आया तब भगवान् ने उससे कहा—'हे मंडूक! तूने कालोदधि को ऐसा उत्तर दिया था?'

मंडूक बोला—हाँ भगवन्! मैंने यही उत्तर दिया था। मेरे उत्तर को आप अपने ज्ञान से जानते ही हैं।

भगवान् ने कहा—हे मंडूक! तूने कालोदधि को समीचीन उत्तर दिया था। यदि तुम कहते कि मैं धर्मास्तिकाय देखता हूँ, तो

घबराने की जरूरत नहीं है, क्योंकि इस समय तुम्हारे ऊपर कार्य-सिद्धि करने का उत्तरदायित्व आ पड़ा है। जो हार गया या मारा गया वह तो गया ही; परन्तु जो जीता है या जो जीवित है उसके सिर गम्भीर उत्तरदायित्व आ पड़ा है। जो मर गये वे तो गये ही, किन्तु उनके पीछे जो लोग बचे हैं उनकी रक्षा का भार विजेता के कन्धों पर आ पड़ता है। जो विजेता व्यक्ति मृत पुरुषों के पीछे रहे हुए लोगों की सार-सँभाल नहीं रखता, यह पतित हो जाता है। तुम विजयी हुए हो अतः बचे हुए लोगों की सार-सम्भाल का भार तुम्हारे जिम्मे है। तुम्हारे ऊपर सम्पूर्ण भारतवष का भार है। अतः तुम्हारे जो शत्रु मारे गये हैं उनके पत्नी-पुत्र आदि के प्रति वैरभाव न रखते हुए उन्हें सान्त्वना दो—शान्ति पहुँचाओ, जिससे वह लोग दुर्योधन को भूल जाएँ!

हे युधिष्ठिर! राजा चाहे तो अपना भी कल्याण कर सकता है और दूसरो का भी कल्याण कर सकता है। इसी प्रकार वह दोनों का अकल्याण भी कर सकता है। मगर अपना और दूसरों का कल्याण करने वाले राजा उंगलियों पर गिनने योग्य ही होते हैं। अधिकांश राजा तो प्रजा को ऐसी उलटी ही शिक्षा देते हैं, जिससे प्रजा निर्बल बन जाती है और राजा के अनुचित कार्य के विरुद्ध बोलने की हिम्मत भी नहीं कर सकती। जो विचारशील राजा सोचता है कि अन्त में मुझे भी मरण-शरण होना है तो क्यों न मैं अपना और दूसरों का कल्याण करूँ, वही राजा, प्रजा को अच्छी शिक्षा देगा। वह प्रजा को निर्बलता उत्पन्न करने वाली शिक्षा हर्गिज़ न देगा।

हे युधिष्ठिर! दुर्योधन की कुशिक्षा का हमारे ऊपर ऐसा जबर्दस्त प्रभाव था कि यह बात अब हमारी समझ में आई है। हम

और प्रगाढ़ हो जाता है। दर्शन की विशुद्धि करने के लिए चौवीस तीर्थङ्करों का स्तवन निरन्तर करते रहना चाहिए। कदाचित् स्तवन का फल प्रत्यक्ष या तत्काल दृष्टिगोचर न हो तो भी उसी प्रकार स्तवन करते रहना चाहिए। दवा का फल प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता फिर भी वैद्य पर विश्वास करके रोगी उसका सेवन करता रहता है और आगे चलकर दवा अपना गुण प्रकट करती है, इसी प्रकार भगवान् के कथन पर विश्वास रखकर तीर्थङ्करों का स्तवन करते रहोगे तो दर्शन की प्राप्ति अवश्य होगी। मोह और मिथ्यात्व का अवश्य ही विनाश होगा। शास्त्र में कहा है :—

सद्धा परम दुल्लहा।

अर्थात्—श्रद्धा बहुत दुर्लभ है।

यह कथन उस श्रद्धा के विषय में है, जो श्रद्धा 'जीवित' होती है। जैसे मुर्दा मनुष्य किसी काम का नहीं समझा जाता, उसी प्रकार मरी हुई श्रद्धा भी किसी काम की नहीं होती। अगर किसी मनुष्य में मुर्दापन आता दिखाई देता है तो उसे दवा देकर स्वस्थ किया जाता है, इसी प्रकार अगर आपकी श्रद्धा मे मुर्दापन आ रहा हो तो उसे भी चौवीस जिनो की स्तुति द्वारा जीवित बनाओ। ऐसा करने से श्रद्धा गुण की प्राप्ति होगी। अतएव चौवीस तीर्थङ्करों की स्तुति करने में वीरता और धीरता रक्खो। उदासीनता का त्याग करो।

आपने युधिष्ठिर की कथा सुनी होगी। युधिष्ठिर मे उदासीनता आ गई थी। अगर उनमे उदासीनता रह गई होती तो अर्थक्रिया की सिद्धि न हो सकती। भीष्म ने उस समय युधिष्ठिर से कहा—यह अवसर उदासीनता दूर करके अर्थक्रिया सिद्ध करने का है, अतः घबराओ मत। तुमने अनेक लोगों को मारा है, फिर भी

नहीं बोलना चाहिए। इसी शिक्षा के कारण वहाँ उपस्थित लोगों में ऐसी कायरता पैठ गई थी कि सब मौन साधे बैठे रहे। सब लोग अपने-अपने मन में सोचते थे कि अनुचित कार्य हो रहा है, मगर दुर्योधन के सामने कौन बोले? हमारे लिए यह कितनी लज्जास्पद बात थी! एक कवि ने कहा है:—

नीरक्षीरविवेके हंस! आलस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनाऽन्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः? ॥

पक्षियों के झुण्ड में एक राजहंस भी था। किसी पुरुष ने इस झुण्ड के सामने दूध और पानी का एक प्याला रक्खा। दूसरे पक्षियों ने उस प्याले में चोंच मारी तो राजहंस ने भी चोंच मारी। लेकिन जब दूसरे पक्षी चुपचाप बैठ रहे तो राजहंस भी चुप हो रहा। यह दृश्य देखकर कवि कहता है—'हे राजहंस! दूध और पानी को अलग-अलग करने के अवसर पर भी यदि तू चुप बैठा रहेगा तो तेरे कुलव्रत का पालन कौन करेगा?

कवि की इस उक्ति पर विचार करके आपको समझना चाहिए कि यद्यपि धर्म सिर्फ मेरा ही नहीं—सब का है, फिर भी सब लोग धर्म करें या न करें, किन्तु मुझे तो धर्म का आचरण करने के लिए सदा तैयार रहना ही चाहिए। फारसी की एक कहावत के अनुसार मनुष्य इस कुदरत का बादशाह है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का कोई कार्य अनुचित क्यों होना चाहिए?

भीष्म कहते हैं—हे युधिष्ठिर! तुम्हारे राज्य में इस प्रकार प्रजा को निर्बल बनाने वाली शिक्षा नहीं होनी चाहिए। प्रजा को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए कि वह राजा के विरुद्ध भी पुकार कर सके और राजा, प्रजा की पुकार सुनने के लिए तैयार रहे। इसी

उसके पापो को देखते थे, जानते थे, पर हममें इतना साहस ही नहीं था कि उसके विरुद्ध जीभ खोल सकते ! इसका प्रधान कारण यही था कि हमें निर्बलता उत्पन्न करने वाली शिक्षा मिली थी कि राजा के विरुद्ध जबान नहीं खोलना चाहिए।

आप लोग 'विरुद्धरज्जाइकम्मे' पाठ का अर्थ समझते हैं ? अगर आप इस शब्द का यह अर्थ समझते हों कि 'राजा के विरुद्ध कुछ न करना' तो आपको धर्म का त्याग कर देने के लिए तैयार रहना पड़ेगा। कल्पना करो, राजा ने प्रत्येक को अनिवार्य रूप से शराब पीने का कानून बनाया। अब आप राजा के बनाये इस कानून को मानेंगे ? अगर कहो कि राजा की ऐसी आज्ञा नहीं माननी चाहिए, तो जो काम शराब पीने से भी अधिक हानिकारक हैं, ऐसे कामों के लिए राजा के विरुद्ध कुछ न बोलने की बात कहना किस प्रकार समुचित कहा जा सकता है ? राजा के विरुद्ध न बोलना या राजा के विरुद्ध काम न करना 'विरुद्धरज्जाइकम्मे' का अर्थ नहीं है। इस पाठ का अर्थ यह है कि राज्य अर्थात् सुव्यवस्था के विरुद्ध काम नहीं करना चाहिए। राजा के विरुद्ध काम नहीं करना चाहिए, यह भ्रमपूर्ण अर्थ समझ बैठने के कारण ही आप में कायरता आ गई है।

भीष्म कहते हैं—'हे युधिष्ठिर ! जिस समय द्रौपदी का वस्त्र खींचा जा रहा था उस समय क्या हमारा यह कर्त्तव्य नहीं था कि हम इस कार्य के विरुद्ध आवाज उठाते ? मगर हम सब टुकुर-टुकुर देखते रहे और द्रौपदी का वस्त्र खींचा जाता रहा ! यद्यपि हमें उस समय उस पाप-कार्य का विरोध करना चाहिए था, लेकिन हम प्रकट रूप से कुछ भी न बोल सके। हमारी यह कैसी कायरता थी ? दुर्योधन से हमें यही शिक्षा मिली थी कि राजा के विरुद्ध कुछ भी

१४

दसवाँ बोल।

वंदना



प्रश्न—वंदणएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं निबंधइ, सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निवत्तेइ, दाहिण-भावं च णं जणय ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! वन्दना करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—वन्दना करने से जीव नीचगोत्र कर्म का क्षय करता है, उच्च गोत्र का बंध करता है, सुभग, सुस्वर आदि का बंध करता है, सब उसकी आज्ञा मानते हैं और वह दाक्षिण्य को प्राप्त करता है।

व्याख्यान

चौवीस तीर्थङ्करों की प्रार्थना करने के सम्बन्ध में पहले विवेचन किया जा चुका है। जिनकी प्रार्थना की जाती है, जिनका स्तवन किया जाता है, उन तीर्थंकर भगवान् को वन्दना-नमस्कार भी करना ही चाहिए। अतः यहाँ वन्दना के विषय मे कहा जायगा।

प्रकार सत्ता का दुरुपयोग नहीं वरन् सदुपयोग होना चाहिए। राज्य में अगर इतना सा सुधार भी न हुआ तो तुम में और दुर्योधन में क्या अन्तर रहेगा?'

भीष्म के इस कथन पर आप भी विचार करो। भगवान् महावीर ने जो शिक्षा दी है, वह कायरता धारण करने के लिए नहीं वरन् वीरता प्रकट करने के लिए है। आप इस शिक्षा का उलटा अर्थ करके कायरता मत आने दो। वस्तु का विपरीत उपयोग करके कायर मत बनो। किसी वीर पुरुष के हाथ में तलवार होती है तो वह अपनी भी रक्षा करता है और दूसरे की भी रक्षा करता है। इसके विरुद्ध कायर के हाथ की तलवार उसकी हानि करती है और वह तलवार का भी अपमान करता है। तुम्हें वीर-धर्म मिला है। इस वीरधर्म का अर्थ उलटा करके कायरता मत धारण करो। सदैव इस बात का ध्यान रक्खो कि वीरधर्म का दुरुपयोग न होने पावे।

यहाँ यह देखना है कि इन पच्चीस आवश्यकों का अर्थ क्या है ? साध्वी या अन्य स्त्री गुरु से सत्ताईस हाथ दूर रहे और शिष्य या अन्य पुरुष साढ़े तीन हाथ दूर रहें, यह गुरु का अभिग्रह-क्षेत्र है अगर स्थान का संकोच न हो तो गुरु से पुरुष या शिष्य साढ़े तीन हाथ की और साध्वी या स्त्री सत्ताईस हाथ की दूरी पर रहकर, विनीत भाव से, नीची दृष्टि करके, हाथ मे ओघा और मुख पर मुख-वस्त्रिका सहित, गुरु को नमस्कार करते हुए 'खमासणा' का यह पाठ बोलते हैं—

इच्छामि खमासमणो वंदिउं ।

अर्थात्—हे क्षमाश्रमण ! मैं आपको वन्दन करने की इच्छा करता हूँ ।

कहा जा सकता है कि जब वन्दन करने की इच्छा है ही तो इस प्रकार कहने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इस प्रकार कहने वाले व्यक्ति को गुरु के अभिग्रह में प्रवेश करना है, अतएव वह गुरु की स्वीकृति चाहता है। अभिग्रह के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार भेद हैं। इन सब का यहाँ वर्णन न करते हुए सिर्फ इतना कह देना आवश्यक है कि गुरु के क्षेत्र-अभिग्रह मे प्रवेश करना है, इसी हेतु गुरु की स्वीकृति ली जाती है। गुरु को इच्छापूर्वक नमस्कार करना चाहिए। नमस्कार करने में उद्दंडता होना उचित नहीं है और इसी कारण आचार्य के क्षेत्र-अभिग्रह में प्रवेश करने की स्वीकृति ली जाती है। अगर आचार्य अभिग्रह में प्रवेश करने की स्वीकृति देना चाहते होंगे तो वे 'छंदेणं' अर्थात् 'जैसी तुम्हारी इच्छा' कहेंगे। अगर वे अभिग्रह में प्रवेश करने की स्वीकृति नहीं देना चाहते होंगे तो 'तिविहेणं' कहने का तात्पर्य यह है कि वहीं से मन,वचन और काय से नमस्कार कर लो।

कदाचित् कोई तीर्थंकरों की प्रार्थना न कर सके परन्तु वन्दना तो सभी कर सकते हैं। अतः शास्त्र में वन्दना के फल के विषय में प्रश्न किया गया है।

'वदि' धातु से वन्दना शब्द बना है। वंदन शब्द का अर्थ अभिवादन करना भी होता है और स्तुति करना भी होता है। वंदना कब करना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर में यह क्रम है कि सर्वप्रथम सामायिक करना चाहिए अर्थात् पहला सामायिक आवश्यक है, तत्पश्चात् चौवीस जिनस्तवन आवश्यक है और फिर वन्दन आवश्यक है। वंदना करने की भी विधि है। वन्दना किस प्रकार करना चाहिए, इस विषय पर शास्त्रकारो ने बहुत प्रकाश डाला है। आज तो वन्दना करने की विधि में भी न्यूनता नज़र आती है, मगर शास्त्रीय वर्णनों से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में विधिपूर्वक ही वन्दना की जाती थी और इसी कारण वंदना के फल के सम्बन्ध में भगवान् से प्रश्न किया गया है। भगवान् ने वन्दना आवश्यक का बहुत फल प्रकट किया है। वंदना के २५ आवश्यक बतलाये गये हैं। वह पच्चीस आवश्यक कहाँ हैं, इस विषय में कहा है :—

दुयो णय अहाजायं कीयकम्मं बारसावस्सयं होई।
चउ सीरं तिगुत्तं च, दुप्पवेसं एग निक्खमणं॥

वन्दना के पच्चीस आवश्यकों का निरूपण इस प्रकार किया गया है—दो बार नमन कीर्त्तिकर्म अर्थात् वन्दना आवश्यक, एक यथाजात आवश्यक, बारह आवर्त्तन आवश्यक, चार मस्तक-नमन के आवश्यक, तीन गुप्ति धारण करना आवश्यक, दो बार गुरु के अभिग्रह में प्रवेश करना आवश्यक और एक बार गुरु के अभिग्रह में से निकलना आवश्यक। इन पच्चीस आवश्यकों के होने पर ही वन्दना पूर्ण होती है।

यह कैसी सूचना दी गई है? इस क्षमायाचना से इस रहस्य का ज्ञान होता है कि जब गुरु के चरणस्पर्श करने में भी गुरु को कष्ट न पहुँचने जैसी सूक्ष्म बात का ध्यान रक्खा जाता है तो फिर दूसरे प्रकार का कष्ट न होने देने के विषय में कितना ध्यान रखना चाहिए! जिस घर में एक कौड़ी भी वृथा खर्च नहीं की जाती, उस घर में रुपया-पैसा वृथा खर्च कैसे किया जा सकता है? इसी प्रकार जहाँ चरणस्पर्श करने में भी कष्ट न पहुँचाने का ध्यान रक्खा जाता है और इतनी सूक्ष्म बात के लिए भी क्षमायाचना की जाती है, वहाँ अन्य बातों पर क्यों नहीं ध्यान दिया जाता होगा? मगर इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि गुरु को कष्ट होने का विचार करके उनके चरणों का स्पर्श ही न किया जाय! एक कौड़ी भी वृथा खर्च न करना ठीक हो सकता है किन्तु आवश्यकता पड़ने पर भी खर्च न करना कृपणता है। इसी प्रकार गुरु को कष्ट न हो, इस बात का ध्यान रखना तो उचित है मगर उन्हें कष्ट होने के विचार से चरणों का स्पर्श ही न करना अनुचित है। गुरु को कष्ट हो, इस प्रकार से उनके चरणों का स्पर्श करना यद्यपि अनुचित है, फिर भी चरणस्पर्श किया जाता है और ऐसा करने में किसी अंश में, गुरु को कष्ट पहुँच जाना शक्य और सम्भव है, इसी कारण यह कहा गया है कि—हे गुरु! आपके चरणों का स्पर्श करने में आपको जो कोई कष्ट हुआ हो, उसके लिए क्षमा कीजिए। आप क्षमासागर हैं, अतः मेरा अपराध भी क्षमा करें।

'अहोकायं कायसंफासियं' इन शब्दों का ह्रस्व-दीर्घ रीति से उच्चारण करके चरणस्पर्श करना चाहिए और फिर क्षमायाचना करके गुरु को हाथ जोड़कर, नमस्कार करके इस प्रकार कहना चाहिए:—

अगर आचार्य 'छंदेणं' कह कर अभिग्रह में प्रवेश करने की स्वीकृति दें तो उस समय बालक के समान अथवा दीक्षा धारण के समय के समान नम्रता धारण करके, हाथ में ओघा रखकर और मुख पर मुखवस्त्रिका सहित अभिग्रह मे 'निस्सही निस्सही' (अर्थात् मैं मन, वचन, काय से सावद्य योग का त्याग करता हूँ) कहते हुए गुरु के अभिग्रह में प्रवेश करना चाहिए और फिर गुरु के चरणो में निकट पहुँच कर बारह प्रकार का आवर्त्तन करना चाहिए। आवर्त्तन करते समय 'अहोकायं कायसंफासियं' ऐसा बोलते जाना चाहिए। 'अहोकायं काय' इसमें छह अक्षर हैं। इन छह अक्षरों में से दो दो अक्षरों का एक एक आवर्त्तन होता है। इस प्रकार 'अहोकायं काय' इन छह अक्षरों के तीन आवर्त्तन हुए। 'अहोकाय काय' ऐसा बोलते हुए आवर्त्तन करना चाहिए और 'संफासियं' शब्द का उच्चारण करते समय अपने हाथ और मस्तक द्वारा गुरु के चरण का स्पर्श करना चाहिए।

'अहोकायं कायसंफासियं' का अर्थ है-'हे गुरु महाराज ! आपकी नीची काया अर्थात् चरण को मैं अपनी ऊँची काया अर्थात मस्तक से स्पर्श करता हूँ।'

आवर्त्तन और चरणस्पर्श करने के पश्चात् इस प्रकार कहना चाहिए—

'खमणिज्जो भे ! किलामो अप्पकिलंताणं बहु सुभेणं भे दिवसो वइक्कंतो ।'

अर्थात्—हे पूज्य ! अपनी ऊँची काया द्वारा आपकी नीची काया का स्पर्श करते समय आपको जो कुछ क्लेश हुआ हो, मेरा वह अपराध क्षमा कीजिए।

जैसे पति-पत्नी अग्नि की प्रदक्षिणा करके एक दूसरे के धर्म को स्वीकार करते हैं उसी प्रकार शिष्य भी आवर्त्तन द्वारा वीरता पूर्वक गुरु का धर्म स्वीकार करता है। गुरु का धर्म स्वीकार करने के पश्चात् वह शिष्य यदि गुरु के धर्म के विरुद्ध प्रवृत्ति न करे तो ही उसका आवर्त्तन और वंदन सच्चा समझो।

कहने का आशय यह है कि गुरु के अभिग्रह में प्रवेश करते समय दो बार मस्तक झुकाना दो आवश्यक हुए। फिर नवदीक्षित के समान नम्र हो जाना यह एक आवश्यक हुआ। तदन्तर बारह आवर्त्तन करना बारह आवश्यक हैं। इस प्रकार यहाँ तक पंद्रह आवश्यक हुए। चार बार मस्तक नमाने के चार आवश्यक हुए तीन गुप्तियों के तीन आवश्यक, दो आवश्यक प्रवेश करते समय के और एक आवश्यक निकलते समय का। इस तरह सब मिलकर पच्चीस आवश्यक होते हैं।

तीन गुप्ति का अर्थ यह है कि मन, वचन और काय को एकाग्र करके गुरु को वंदना करनी चाहिए। गुरु को वन्दना करते समय इस प्रकार विचार करना चाहिए कि अनेक जन्म-जन्मान्तर में भटकने के बाद मुझे जो मन की प्राप्ति हुई है, उसको सार्थकता गुरु को वन्दन करने से ही हो सकती है। अतएव मन को खराब कामों में नहीं पिरोना चाहिए। मान लीजिए, किसी मनुष्य को कीमती मोती मिला हो तो क्या वह मामूली मिठाई के बदले उसे दे देगा ? अगर नहीं तो जो मन अनेक जन्म-जन्मान्तरों के अनन्तर मिला है, उस मन को खराब कामों में पिरो देना क्या उचित कहा जा सकता है ? अनेक विध कठिनाइयाँ झेलने के बाद जो मन मिला है, उसकी कीमत समझकर और मन को एकाग्र करके गुरु को वंदना की जाय तभी मन का पाना सार्थक कहा जा सकता है।

बहुसुभेणं भे ! दिवसो वइक्कन्तो ? जत्ता भे ! जवणिज्जं च भे !

इस पाठ में देवसी, रायसी, पक्खी, चौमासी या संवत्सरी का जो दिन हो, उसका उच्चारण करना चाहिए। इस पाठ का अर्थ यह है-'हे गुरो ! दिवस, रात्रि पक्खी, चौमासा या संवत्सरी का काल आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ ? इस प्रकार गुरु से कुशल-प्रश्न पूछना चाहिए। फिर 'जत्ता भे' इतना कहकर पहला आवर्त्तन, 'जवणि' कहकर दूसरा और 'ज्जं च भे' कहकर तीसरा आवर्त्तन करना चाहिए।

इन तीन आवर्त्तनों के समय उच्चारण किये हुए अक्षरो में से 'जत्ता भे' का अर्थ यह है कि—'गुरु महाराज ! मूल गुण और उत्तर गुण रूपी आपकी संयम यात्रा तो आनन्दपूर्वक चलती है न ? 'जवणिज्जं' का अर्थ यह है कि आप इन्द्रियों का और मन का दमन तो बराबर करते हैं न ? 'ज्जं च भे' का आशय यह कि 'हे गुरु ! आपकी संयमयात्रा, आपके इन्द्रियदमन और आपकी यतना को मैं स्वीकार करता हूँ।'

गुरु को आवर्त्तन करने का उद्देश्य क्या है ? किस हेतु से आवर्त्तन करना चाहिए ? इन प्रश्नों का निर्णय करने के लिए यह विचार करना चाहिए कि वर और कन्या अग्नि की प्रदक्षिणा किस लिए करते हैं ? वर-कन्या जब तक अग्नि की प्रदक्षिणा नहीं करते तब तक वे कुँवारे समझे जाते हैं। अग्नि की प्रदक्षिणा करने के अनन्तर आर्य बाला प्राणों का उत्सर्ग कर सकती है पर नियम का भंग नहीं करती। स्त्रियाँ अपनी मर्यादा का इतना ध्यान रखती हैं तो क्या पुरुषों को मर्यादा का पालन नहीं करना चाहिए ?

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उसके विषय में यह समझ लेना आवश्यक है कि उच्चगोत्र किसे कहते हैं और नीचगोत्र कर्म क्या है ? आजकल नीचगोत्र और उच्चगोत्र कर्म का अर्थ समझने में भूल होती है और इससे अनेक लोग भ्रम मे पड़ गये हैं। वीरम-गाँव में मुझ से प्रश्न किया गया था कि शास्त्र में उच्च और नीच गोत्र का नाम आता है ? मैंने कहा—हाँ, शास्त्र में दोनों का नाम आता है। तो उच्च गोत्र उच्च होगा और नीच गोत्र नीच होगा ? उत्तर मे मैंने कहा—तुम इस प्रकार तो कहते हो पर शास्त्र में कहीं ऐसा आया हो तो बताओ कि किसी मनुष्य को छूना नहीं चाहिए ! इसके अतिरिक्त नीचगोत्र क्षय किया जाता है या उसकी रक्षा की जाती है ? जब नीचगोत्र क्षय किया जाता है तो वह नीच गोत्र ही बना रहता है, यह कैसे कहा जा सकता है ? नीच गोत्र वाला उच्च गोत्री भी बन सकता है।

गोत्र का अर्थ करते हुए कहा गया है:—

गां वाणीं त्रायते रक्षते इति गोत्रः।

'गो' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ 'गो' शब्द का अर्थ वाणी है और 'त्र' का अर्थ पालन करता है। इस प्रकार गोत्र का अर्थ 'वाणी का पालन करना' होता है। इस अर्थ के अनुसार श्रेष्ठ पुरुषों की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है और नीच पुरुषों की वाणी का पालन करने वाला नीचगोत्री कहलाता है।

कहा जाता है कि नीच गोत्र वाले को मुक्ति नहीं मिल सकती, लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि नीचगोत्र कर्म का क्षय भी हो जाता है और तब वह मुक्ति का अधिकारी क्यों न होगा ? नीचगोत्र में उत्पन्न होकर के भी उच्च पुरुषों की वाणी का पालन करने

जिस वन्दना का फल यहाँ तक बतलाया गया है कि बँधा हुआ नीच गोत्र कर्म भी वन्दना से क्षीण हो जाता है और उच्च गोत्र का बँध होता है, उस वन्दना के समय भी यदि मन एकाग्र न हुआ तो फिर किस समय होगा ? मगर लोक सत्कार्य में मन एकाग्र नहीं करते और यही अधोगति का कारण है।

मन एकाग्र करना ही मन की गुप्ति है, फिर वचन से बहु-मानतापूर्वक श्रेष्ठ अलंकार बोलते हुए गुरु को वंदना करना काय-गुप्ति है।

यह सब पच्चीस आवश्यक हुए। इन आवश्यकों की रक्षा करके और वंदना के बत्तीस दोष टालकर गुरु को वंदना की जाती है, वही सच्ची वंदना है।

आज वंदना की यह विधि क्वचित् ही दिखाई देती है, अतएव वंदनाविधि जानने का और विधिपूर्वक वदना करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार विधिपूर्वक की जाने वाली थोड़ी भी वदना अधिक लाभदायक सिद्ध होती है। जिन लोगो ने विधि-पूर्वक युद्ध करने की शिक्षा प्राप्त की है, वे संख्या में थोड़े होने पर भी विधिपूर्वक युद्ध करके विजयी होते हैं और अशिक्षित योद्धा बहु-संख्यक होने पर भी हार जाते हैं। इसी प्रकार विधिरहित बहुत वंदना की अपेक्षा विधियुक्त अल्प वंदना अधिक फलदायक होती है। इसलिए वंदना की विधि सीखने की आवश्यकता है। प्राचीन काल के लोग विधिपूर्वक ही वन्दना करते थे। आप लोग वंदना की विधि सीखकर, विधिपूर्वक वन्दना करेंगे तो आपका कल्याण होगा।

विधिपूर्वक वन्दना करने से क्या फल मिलता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है कि विधिपूर्वक वन्दना करने से जीव नीच गोत्र कर्म का क्षय करके उच्चगोत्र का बंध करता है।

आत्मा को यही कहता हूँ कि–हे आत्मा ! तू ऐसा प्रयत्न कर जिससे पूर्ण वन्दना कर सके।

आपको ऐसा विचार नहीं करना चाहिए कि हम उच्च कुल में जन्म चुके हैं, इसलिए अब हमें कुछ भी करना शेष नहीं रहा, इससे विपरीत आपको यह विचारना चाहिए कि हम जितने अंशों में महापुरुषों की वाणी का पालन करते हैं उतने अंशों में तो उच्च गोत्र के हैं और जितने अंशों में उस वाणी का पालन नहीं करते उतने अंशों में उच्चगोत्री नहीं हैं। इस प्रकार विचार करने से ही अपनी अपूर्णता देखी जा सकती है और फलस्वरूप अपूर्णता दूर करने का प्रयत्न करके आत्मा का कल्याण किया जा सकता है।

अहंकार को जीतना वंदना का एक प्रधान प्रयोजन है। वन्दना का अर्थ नम्रभाव धारण करना है। नम्रभाव धारण करने वाला ही अहंकार को जीत सकता है परन्तु वन्दना सांसारिक पदार्थों की स्वार्थभावना से नहीं होनी चाहिए। सांसारिक पदार्थों की कामना से तो सभी लोग नमनभाव धारण कर लेते हैं। क्या व्यापारी अपने ग्राहक को नमन नहीं करता ? बचपन में मैंने इस स्थिति का अनुभव किया है कि व्यापारी किस प्रकार ग्राहक को नमन करते हैं। मैं जब छोटा था और दुकान पर बैठता था तब मुझे यह अनुभव हुआ था कि ग्राहक की कितनी प्रशंसा और कितना आदर किया जाता है। लेकिन यह सब नमनभाव उसकी गाँठ का पैसा निकलवाने के लिए ही होता है। इस प्रकार स्वार्थ सिद्धि के लिए तो वंदना की ही जाती है किन्तु यहाँ जिस वंदना की चर्चा चल रही है, वह ऐसी नहीं होनी चाहिए। वह गुणों की वंदना होनी चाहिए। गुण देखकर उन्हें प्राप्त करने के लिए की जाने वंदना ही सच्ची वंदना है। इसी प्रकार की वंदना से अहंकार पर विजय प्राप्त की जा सकती और परमात्मा

वाला मुक्ति प्राप्त कर सकता है। गोत्र दो प्रकार का है—एक जन्म-जात गोत्र और दूसरा कर्मजात गोत्र। जन्मगत गोत्र कर्म द्वारा बदला जा सकता है। श्री उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—

सोवागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएस बलो नाम, आसी भिक्खू जिइंदिओ॥

—उत्तराध्ययन १२-१।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चाण्डाल कुल में उत्पन्न हो जाने पर भी महापुरुषों की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है और ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हो करके भी नीच-वाणी को पालने वाला नीचगोत्रवान् है। महाभारत में भी कहा है कि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति भी चांडाल बन सकता है। इससे साफ़ जाहिर हो जाता है कि उच्चता और नीचता जन्मजात ही नहीं किन्तु कर्मजात भी है।

वंदना का फल बतलाते हुए भगवान् ने कहा है कि वन्दना से नीच गोत्र का क्षय होता है और उच्च गोत्र का वंध होता है। परन्तु इस बात का प्रयत्न करने की आवश्यकता है कि वन्दना पूर्ण हो सके। जब मैं आप लोगो को यह विषय सुनाता हूँ तब यह भी विचार करता हूँ कि कहीं मैं ऐसा न रह जाऊँ कि कुड़छी दूसरो की थाली में तो परोस देती है लेकिन स्वयं कुछ भी स्वाद नहीं लेती। मैं कोरा न रह जाऊँ, अतः अपनी आत्मा से यही कहता हूँ कि हे आत्मन्! तू ऐसा प्रयत्न कर जिससे पूर्ण वन्दना कर सके। अगर मुझ से पूर्ण नियमों का पालन होता हो तो मुझे और क्या चाहिए? मगर मैं अपने सम्बन्ध मे ऐसा अनुभव करता हूँ कि मुझ से अभी तक सम्पूर्ण आदर्श नियमों का पालन नहीं होता। अतएव मैं अपने

अर्थात्–जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि गुणों को धारण तो करता है, परन्तु उनका निर्वाह नहीं करता, उसे पासत्था कहते हैं। ऐसे (पार्श्वस्थ) लोगों को और इसी कोटि के कुशील और स्वच्छन्दी लोगों को वंदना करना अनुचित है। कतिपय लोगों का कहना है कि हमें किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं रखना चाहिए और सभी को वंदना करनी चाहिए। मगर यह कथन ठीक नहीं है। राग-द्वेष नहीं होगा तो वंदना किये विना ही मुक्ति मिल जायगी। अगर कोई वंदना करता है तो उसे सोचना चाहिए कि वह किसको और किस उद्देश्य से वन्दना कर रहा है? राजपुरुष आदि को जो वन्दना की जाती है वह उसकी सत्ता के कारण की जाती है, लेकिन वंदना करने योग्य गुणों से रहित पासत्था आदि को वन्दना करने का उद्देश्य क्या है? यहाँ जिस वन्दना का प्रकरण चल रहा है, वह वन्दना सयमादि गुणों से हीन पुरुषों को करना उचित नहीं है। क्यों उचित नहीं है, यह बताने के लिए इस गाथा में कहा है कि पासत्था को वन्दना करने से कीर्त्ति भी नहीं मिलती। कहा जा सकता है कि कीर्त्ति न मिले तो न सही, निर्जरा तो होगी? मगर आगे इसी गाथा में कहा है—पासत्था आदि को वन्दना करने से निर्जरा भी नहीं होती। कोई कह सकता है—निर्जरा न हो तो न सही, वन्दना करने में हानि क्या है? इसके उत्तर में कहा है—पासत्था आदि को वंदना करने से निरर्थक कायक्लेश होता है। कदाचित् कहा जाय कि ऐसा कायक्लेश तो होता ही रहता है, इसके अतिरिक्त और कोई हानि तो नहीं होती? इस प्रश्न के उत्तर में, गाथा में बतलाया गया है कि पासत्था आदि को वन्दना करने से सिर्फ कायक्लेश ही नहीं होता वरन् अनाज्ञाकर्म का बंध भी होता है अर्थात् भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का पाप लगता है।

से भेट हो सकती है।

आज वंदना करने में भी पक्षपात किया जाता है। अर्थात् यह कहा जाता है कि वे हमारे हैं अतएव उन्हे मैं वदना करता हूँ और अमुक मेरे नहीं हैं, अतः मैं उन्हें वंदना नहीं करता। वन्दना करने में भी इस प्रकार का पक्षपात चलाया जाता है। छद्मस्थ पक्षपात से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता, लेकिन वह पक्षपात तेरे-मेरे का नहीं होना चाहिए, वरन् पक्षपात गुणों के प्रति होना चाहिए और यह देखना चाहिए कि उनमें वंदना करने योग्य गुण हैं या नहीं!

शास्त्रों का कथन है कि तुम उन्हीं को वंदना करो, जिनमें संयम आदि गुण हैं। जिनमें यह गुण नही हैं, उन पासत्था आदि को शास्त्र ने वंदना न करने का विधान किया है। शास्त्र को पासत्था कुशील या स्वच्छन्दचारी लोगो के प्रति द्वेष नहीं है, किन्तु शास्त्र ने उन्हें वंदना करने वालों को भी यह सूचना कर दी है कि पासत्था आदि को वंदना करना उन्हें और अधिक पतित करने के समान है। अगर आप उन्हे वदना करेंगे तो वे विचार करेंगे—'लोग हमें वन्दना तो करते ही हैं, फिर यदि संयम का पालन न किया तो भी क्या हर्ज है?' इस प्रकार विचार कर वे लोग अधिक पतित हो जाते हैं। अतः ऐसे लोगों को वन्दना करना उन्हे अधिक पतित करने के समान है। वंदना गुणों के लिए ही की जाती है, अतः जिनमें संयमादि गुण हो उन्हीं को वंदना करना उचित है। जिन्होंने संयमादि गुणों को स्वीकार तो किया है, किन्तु जो उन्हे अपने जीवन में उतारते नहीं हैं, उन पासत्था आदि को वन्दना करना अपने को और उनको पतित करने के समान है।

संबोधसत्तरी में कहा है—

पासत्थं वंदमाणस्स नेव कित्ती न निज्जरा होइ।
होई कायकिलेसो, अण्णाणं बंधई कम्मं॥

प्रकार जो जैसों की वाणी का पालन करता है, उसके कुल में संस्कार भी प्रायः वैसे ही बन जाते हैं और उस वाणी के पालन करने के आधार पर ही वे उच्चगोत्र के अथवा नीचगोत्र के माने जाते हैं। उच्चगोत्र वालों के कुल के संस्कारों से आत्मा उन्नत बनता है, अवनत नहीं बनता। किसी कुल के संस्कार ऐसे भी होते हैं कि उनकी बदौलत उन्हे अच्छी बात रुचिकर नहीं होती और पाप-कृत्यों के प्रति घृणा नहीं होती। किसी कुल के संस्कार ऐसे होते हैं कि चाहे जो हो पर उस कुल में जन्मने वाले पापकार्यों में प्रवृत्त नहीं होते। उदाहरणार्थ—तुम्हारे सामने कोई लाख रुपयों की थैली रख दे तो भी तुम बकरे की गर्दन पर छुरी फेरने को तैयार नहीं होओगे। यह उच्चगोत्र और कुल के सत्संस्कारों का ही प्रभाव है। कभी-कभी उच्चगोत्र वालों में भी कोई बुरी बात घुस जाती है। जैसे तुम लोगों को बकरा मारने में जैसी घृणा है, वैसी ही घृणा क्या असत्य भाषण और व्यभिचार के प्रति भी है ?

प्राचीन काल में व्यभिचार, हिंसा से भी अधिक बुरा माना जाता था। मगर आजकल व्यभिचार के प्रति उतनी घृणा नहीं देखी जाती। पुराने जमाने में व्यभिचार, हिंसा से भी बुरा समझा जाता था, इसका प्रमाण यह है कि महाशतक श्रावक की पत्नी रेवती हिंसा का क्रूर कर्म करती थी, फिर भी महाशतक ने उसे घर से बाहर नहीं निकाल दिया था। महाशतक ने रेवती को घर से बाहर क्यों नहीं निकाल दिया? इसका कारण मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि महाशतक यह विचार करता था कि रेवती का खानपान खराब है लेकिन मुझ पर इसका अनुराग है और वह व्यभिचार से बची हुई है। अगर मैं उसे बाहर कर दूंगा तो वह और अधिक बिगड़ जायगी और सम्भव है व्यभिचार आदि के पापों में भी पड़ जाय! इस

मान लीजिए, चम्पा के फूलों की माला अशुचि में पड़ गई है। यद्यपि चम्पा के फूलों की माला आपकी दृष्टि में अच्छी वस्तु है, फिर भी अशुचि में पड़ी हुई वह माला पहनने योग्य नहीं है। इसी प्रकार जो लोग पासत्थापन की अशुचि में पड़ गये हैं, उनके प्रति बुद्धिमान् पुरुष किसी प्रकार का द्वेष धारण नहीं करते किन्तु साथ ही गुणी जनों के प्रति की जाने योग्य वन्दना भी नहीं करते। निशीथसूत्र में भी कहा है—

जे भिक्खू पासत्थं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ, एवं कुसीलं उसन्नं, अहाछंदं संसत्तं।'

इस प्रकार पार्श्वस्थ आदि को वन्दना करने का बहुत कुछ निषेध किया गया है। यह ठीक है कि वन्दना करने से बहुत लाभ होते हैं, मगर गुणरहित को वन्दना करने से लाभ के बदले उलटी हानि ही होती है। वन्दना के जो बत्तीस दोष बतलाये गये हैं, उनके वर्णन करने का अभी समय नहीं है। अतएव संक्षेप में मैं इतना ही कहता हूँ कि पच्चीस आवश्यक सहित और बत्तीस दोषरहित वंदना करने का फल नीच गोत्र का क्षय करना और उच्च गोत्र बाँधना है।

गोत्र की व्याख्या पहले की जा चुकी है। श्रेष्ठ पुरुषों की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है और नीच पुरुष की वाणी का अनुसरण करने वाला नीचगोत्री है। किसी-किसी कुल में अमुक प्रसंगों पर मदिरापान करने की परम्परा होती है। ऐसे नीच संस्कार का आचरण करना नीचगोत्र होने का कारण है। इसी प्रकार किसी के कुल में ऐसी पद्धति होती है कि अमुक प्रसंग पर कोई शुभ कृत्य करना ही चाहिए। यह उच्च या श्रेष्ठ की वाणी का आचरण है। इस

भले ही काट लिया जाय पर गुणहीनों के सामने मस्तक नहीं झुकाया जाता था। धर्म के विषय में भी यह नियम पालन किया जाता था और व्यवहार में भी इस नियम का पालन होता था। कहा जाता है कि मुगल-सम्राट अकबर ने महाराणा प्रताप को कहला भेजा था कि अगर राणा मेरे आगे नतमस्तक हों तो मैं उन्हें मेवाड़ के राज्य के अतिरिक्त और भी राज्य दूंगा। परन्तु महाराणा ने प्रत्युत्तर दिया—'मैं उन्हें धार्मिक समझ कर नमस्कार करूँ, यह बात जुदी है, किन्तु लोभ के वश होकर तो कदापि नमस्कार नहीं करने का। ऐसा करने से मेरी माता को ही कलंक लगता है।' राणा प्रताप में ऐसी दृढ़ता थी। इसी दृढ़ता के कारण उन्हें जंगल में इधर-उधर भटकना पड़ा और संकटों में रहना पड़ा। राणा ने अपना कुलधर्म निभाने के लिए सभी कष्ट सहना स्वीकार किया किन्तु बादशाह के आगे नतमस्तक होना स्वीकार नहीं किया।

धर्ममार्ग में भी इसी प्रकार की दृढ़ता धारण की जाय और संयम आदि गुणों के धारकों को विधिपूर्वक वंदना की जाय तो भगवान् द्वारा प्ररूपित वंदना का फल अवश्य प्राप्त होता है। मगर दृढ़ता धारण किये बिना फल की प्राप्ति नहीं होती। कामदेव और अरणक को पिशाच ने कैसे कैसे कष्ट दिये थे, फिर भी उन्होंने पिशाच के सामने सिर नहीं झुकाया। यह धर्मदृढ़ता का ही परिणाम है। धर्म में दृढ़ता रखने वाले के चरणों में देवता आकर नमन करते हैं। पहले देव ने कामदेव को कष्ट दिये थे किन्तु अन्त में देव को ही दृढ़धर्मी कामदेव के आगे झुकना पड़ा था। आप भी ऐसी ही धर्मदृढ़ता धारण करें। ढीले बने रहने से काम नहीं चलता। धर्म में अटल श्रद्धा और दृढ़ता धारण करने से ही कल्याण हो सकता है।

प्रकार विचार कर उसने स्वयं तो मांसभक्षण का आदर नहीं किया, किन्तु रेवती को व्यभिचार आदि पापों से बचाने के लिए घर से बाहर भी नहीं निकाला। इस तरह पहले के ज़माने में व्यभिचार हिंसा से भी बड़ा पाप माना जाता था।

आशय यह है कि वन्दना करने से नीचगोत्र का क्षय होता है और उच्च गोत्र का बंध होता है। कितनेक लोगों का कहना है कि किये हुए कर्म एकान्ततः भोगने ही पड़ते हैं; लेकिन कृत कर्म अगर बदल न सकते या क्षीण न हो सकते होते तो भगवान् वन्दना का फल यह न बतलाते कि वंदना से नीचगोत्र का क्षय और उच्चगोत्र का बंध होता है। मगर भगवान् ने वन्दना का यही फल बतलाया है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कृत कर्म भी बदल सकते हैं और उनकी निर्जरा भी की जा सकती है। वन्दना करने से अर्थात् नम्रता धारण करने से भी कर्मों का क्षय होता है।

वन्दना का एक फल नीचगोत्र का क्षय और उच्चगोत्र का बंध होना है—दूसरा फल सौभाग्य की प्राप्ति है और तीसरा फल अप्रतिहत होना है अर्थात् वन्दना करने वाला किसी से पराजित नहीं होता। वन्दना का चौथा फल यह है कि वन्दना करने वाले की आज्ञा के अनुसार कार्य होता है, अर्थात् उसकी आज्ञा का कोई लोप नहीं करता। वन्दना का पाँचवाँ फल दाक्षिण्य गुण आना है अर्थात वन्दना करने से होशियारी एवं सर्वप्रियता प्राप्त होती है।

गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करने का ऐसा फल मिलता है। किन्तु आजकल के अधिकांश लोगों ने वन्दना को भी स्वार्थसाधन का एक उपाय बना लिया है और इसलिए चाहे जिसे वन्दना कर ली जाती है। प्राचीन काल में यह बात नहीं थी। उस समय मस्तक

१५

ग्यारहवाँ बोल।

प्रतिक्रमण

गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करने के लिए हृदय के भाव शुद्ध रखने चाहिए मगर कभी-कभी शुद्ध भाव हृदय से निकल जाते हैं और अशुद्ध भाव उनका स्थान ग्रहण कर लेते हैं। इन अशुद्ध भावों को बाहर निकालने और आत्मा में पुनः शुद्ध भाव लाने के लिए प्रतिक्रमण करने की आवश्यकता बतलाई गई है। अतएव प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में भगवान् से प्रश्न किया गया है :—

प्रश्न—पडिक्कमणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—पडिक्कमणेणं वय-छिद्दाइं पिहेइ, पिहियवय-छिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असवलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते उपुहत्ते (अप्पमत्ते) सुप्पणिहिए विहरइ ॥११॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

मन, वचन और काय की शुद्धि किस प्रकार की जा सकती है, यह बताने के लिए वंदना का प्रकरण चल रहा है। वंदना के प्रताप से आत्मा के अनेक विकार दूर हो जाते हैं और विकार दूर हो जाने पर मन, वचन और काय की शुद्धि होती है और आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है। अतएव अगर आप पूर्ण आत्मशान्ति प्राप्त करना चाहते हैं और सुभागी बनना चाहते हैं तो गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करके ऐसा समझो कि यह सब गुरु के चरणों का ही प्रताप है। व्यवहार में तो कहते ही हो कि यह सब गुरुचरणों का प्रताप है, लेकिन हृदय में भी यही कहो और गुरु को विधिपूर्वक वदना करो। साधारणतया साधुजन प्रत्येक बात उपदेश रूप में ही कहते हैं–आदेश रूप में नहीं। फिर आज आपको जो कुछ भी शुभ संयोग मिला है, वह किसी महात्मा की कृपा से ही मिला है। यह बात ध्यान में रखकर गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करोगे तो आत्मा को पूर्ण शान्ति प्राप्त होगी और आत्मकल्याण होगा।

क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिकस्य वशंगतः।
तत्रापि च स एवार्थः प्रतिकूलं गमात्स्मृतः॥

पुरुष जिस स्थान से स्खलित हुआ हो, उसी स्थान पर उसका फिर आ जाना प्रतिक्रमण कहलाता है। जो आत्मा स्व-स्थान का त्याग करके, प्रमाद के वश होकर पर-स्थान में चला गया हो, उसे फिर स्वस्थान मे लाना प्रतिक्रमण है। जैसे कोई बालक अपना घर छोड़कर दूसरे के घर चला जाय तो उसे वापस अपने घर लाया जाता है। इसी प्रकार आत्मा जब अपने स्थान से, दूसरे स्थान पर चला गया हो तो उसी को प्रतिक्रमण द्वारा अपने स्थान पर लाया जाता है।

घर में से चली गई इष्ट वस्तु को फिर अपने घर लौटा लाने का प्रयत्न सारा संसार करता है। आप लोग तिजोरी में से रुपया निकाल देते हैं किन्तु आपका प्रयत्न तो यही रहता है कि निकाला हुआ रुपया ब्याज सहित लौटकर आवे। रुपया लौटकर आयगा, इस आशा से आप उसे छोड़ नहीं देते। जिस रुपया की आशा छोड़ दी जाती है, वह जूआ में लगाया हुआ समझा जाता है। जिसमें लगाया रुपया लौटकर नहीं आता वह जूआ है, व्यापार नहीं। व्यापार तो वही माना जाता है जिसमें लगाया रुपया ब्याज के साथ वापस लौटता है। इस प्रकार सभी लोग यह चाहते हैं कि जो इष्ट वस्तु हमारे यहाँ से गई है, वह वापस लौट आवे। सारा संसार इसी प्रयत्न में संलग्न है।

स्वस्थान से चला गया आत्मा प्रतिक्रमण द्वारा फिर स्व-स्थान पर लाया जाता है। प्रतिक्रमण द्वारा आत्मा को फिर स्व-स्थान पर लाने से आत्मा के भाव अपूर्व हो जाते हैं। आत्मा के

उत्तर—प्रतिक्रमण करने से अहिंसा आदि व्रतों के अतिचार (दोष) रुकते हैं और अतिचारों को रोकने वाला जीव आस्रव को रोकता हुआ तथा निर्मल चारित्र का पालन करता हुआ आठ प्रवचनमाता (पाँच समिति और तीन गुप्ति) रूप संयम से उपयुक्त, अप्रमत्त और सुप्रणिहित होकर विचरता है अर्थात् निजस्वरूप को प्राप्त करता है।

व्याख्यान

प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने संक्षेप में कहा है। प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। किस उद्देश्य से प्रतिक्रमण करना चाहिए और प्रतिक्रमण करने से क्या लाभ होता है, इस विषय में अभी ऊहापोह न करते हुए सिर्फ इतना कहता हूँ कि भगवान् की आज्ञा के अनुसार प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करों के साधुओं को प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। बीच के बाईस तीर्थङ्करो के साधु ऋजु-सरल होते हैं। अतएव जब उन्हें दोष लगता है तब वे प्रतिक्रमण करते हैं और जब दोष नहीं लगता तो प्रतिक्रमण नहीं करते। मगर प्रथम और अंतिम तीर्थङ्करों के साधुओं को तो प्रतिक्रमण करना ही चाहिए।

अब विचार करना चाहिए कि प्रतिक्रमण का अर्थ क्या है ? दूसरे लोग जिस प्रकार सध्या वन्दन आदि करते है, वही स्थान जैनदर्शन मे प्रतिक्रमण का है। परन्तु सध्यावन्दन और प्रतिक्रमण मे भेद है। प्रतिक्रमण का स्वरूप और उसका उद्देश्य बतलाते हुए कहा है—

स्वस्थानात् परस्थानं प्रमादस्य वशाद् गतं,
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

इस बात को समझने के लिए यह देखना चाहिए कि हीरा की कान्ति बड़ी है या आँख की ज्योति बड़ी है ? न मालूम कितने क्षयोपशम-भाव से आत्मा को आँखें मिली हैं। परन्तु इस तरह महा कष्ट से प्राप्त आँखें आत्मा को किस प्रकार उदयभाव में डाल देती हैं, इसके लिए रावण और मणिरथ के उदाहरण तुम्हारे सामने हैं। रावण और मणिरथ की आँखों ने ही उन्हें भ्रम में डाला था। यह तो बड़े आदमियों के उदाहरण हैं। छोटों की तो कोई गिनती ही नहीं है। इन उदाहरणों को सामने रखकर हम विचार कर सकते हैं कि रावण और मणिरथ की भाँति ही अनेक लोग आँख के कारण भ्रम में पड़ जाते होंगे! अतएव इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि आँखों को ऐसी जगह दृष्टिपात ही न करने दिया जाय,जो उदयभाव की हो।

क्षायोपशमिकभाव से प्राप्त नेत्र अगर औदयिकभाव में जाते हैं तो इसके लिए किसे उपालम्भ दिया जा सकता है ? आँखों की बदौलत पतंग दीपक पर पड़कर भस्म हो जाता है। पतंग को इतना ज्ञान नहीं है, इस कारण वह दीपक से प्रेम करता है, मगर तुम तो ज्ञानवान् हो ! पतंग का नेत्र मिले हैं, मगर वह नहीं जानता कि नेत्रों का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए। मगर तुम्हारे नेत्रों के पीछे तो महान् शक्ति विद्यमान है, जो बतला सकती है कि नेत्रों का उपयोग किस प्रकार किया जाय ? पतंग चार इन्द्रियों वाला प्राणी है, मगर तुम्हारे पाँचों इन्द्रियाँ हैं। पंचेन्द्रियों में भी तुम संज्ञी पंचेन्द्रिय हो। संज्ञी पचेन्द्रियों में मनुष्य-जन्म, आर्यक्षेत्र और श्रावककुल में तुम्हें जन्म मिला है। अतएव तुम्हें इस बात का भान होना ही चाहिए कि नेत्रो का सदुपयोग किस प्रकार किया जाय ? इतना होने पर भी तुम्हारे नेत्र कहाँ-कहाँ भटक रहे हैं ! नेत्रों की चंचलता के लिए सिर्फ नेत्रों को उपालम्भ देकर न रह जाओ, वरन्

भाव क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक हैं। इन भावों से अलग होकर आत्मा का औदयिक भाव मे जाना स्वस्थान से पर-स्थान जाना है। इस परस्थान से आत्मा को फिर स्वस्थान में लाना ही प्रतिक्रमण कहलाता है।

आत्मा को इन्द्रियो की प्राप्ति क्षयोपशमभाव के प्रताप से ही हुई है, किन्तु क्षायोपशमिकभाव से प्राप्त इन्द्रियों को आत्मा उदयभाव में ले आने के लिए तैयार हो जाता है। आत्मा को इस प्रकार न करने का उपदेश देने वाले लोग बहुत ही कम हैं, फिर भी ऐसा उपदेश देने वालों के उपदेश को आत्मा बहुत कम सुनता है और नाच-गान वगैरह देखने में तथा सुनने में आनन्द मानता है। ऐसे समय आत्मा को विचारना चाहिए कि मुझे जो इन्द्रियाँ मिली हैं वे औदयिक भाव से नहीं अपितु क्षायोपशमिकभाव से मिली हैं। ऐसी स्थिति में मैं उन्हे उदयभाव में डालकर स्वयं भी उदयभाव में क्यों पड़ा हूँ ?

हिरन को क्या उपदेश दिया जा सकता है ? उसे बचाने का प्रयत्न करने से तो वह और भागता है, लेकिन बाजे की आवाज सुनकर वह मस्त बन जाता है और पास आ जाता है। मृग नहीं जानता कि इस राग के पीछे बाण है। इसी प्रकार आत्मा भी विषयों में फँसा है और वह इतना विचार नही करता कि इन विषयो के पीछे मोह का कैसा तीखा बाण है ! इस बात का विचार करके उदयभाव में गये हुए आत्मा को उदयभाव मे से फिर स्वस्थान में अर्थात् क्षायोपशमिक आदि भावों मे लाना प्रतिक्रमण कहलाता है।

आत्मा किस प्रकार विषयादि मे पड़ रहा है और किस प्रकार क्षयोपशमभाव से प्राप्त इन्द्रियो को उदयभाव में डाल रहा है,

आवश्यकता ही न रहे। लेकिन लोग पदार्थ के गुणों का विचार नहीं करते और कहने लगते हैं कि हमारे घर में दवा है। उस पदार्थ ने हानि पहुँचाई तो दवा लेकर अच्छे हो जाएँगे। इस प्रकार दवा पर निर्भर रहकर लोग वस्तु के गुणों पर विचार नहीं करते। जो लोग गुणों पर विचार करते हैं वे पाप से भी बच सकते हैं और रोग से भी बच सकते हैं।

किसी भी वस्तु को केवल स्वाद की दृष्टि से ही मत अपनाओ उसके गुणों और दोषों का विचार करना आवश्यक है। मछली को काँटे में लगा हुआ मांस अच्छा लगता है, परन्तु वास्तव में वह मांस उसके खाने की वस्तु है या उसकी मृत्यु का उपाय है? आप मछली को उपदेश देने के लिए तैयार हो सकते हैं मगर मछली में उपदेश ग्रहण करने की शक्ति ही नहीं है। लेकिन जरा अपनी ओर देखो। आप जानते-बूझते मछली जैसा, सोचे-समझे बिना काम कर बैठते हैं और स्वाद के वश होकर ऐसे पदार्थों का उपयोग करते हैं, जिनसे इहलोक और परलोक—दोनों बिगड़ते हैं।

आप में से अधिकांश लोग चाय पीते हैं। चाय पीने से होने वाली हानियों को जानते हुए भी आप चाय को प्रिय वस्तु मानते हैं और उसका त्याग नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, चाय द्वारा आजकल सत्कार किया जाता है और कदाचित् कोई उस सत्कार को स्वीकार न करे तो सत्कारकर्त्ता अपना अपमान मानता है। इस प्रकार के अनेक हानिकर खान-पान अपना लिये गये हैं।

चाय किसी दूसरे देश मे लाभकारक भले ही हो किन्तु भारत जैसे गर्म देश में, चाय जैसी गर्म वस्तु पेट में डालना, जान-बूझकर स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने के समान और रोग को आमंत्रित

उस चंचलता को हटाने के लिए हृदयपूर्वक प्रतिक्रमण करो और जिस भाव से नेत्रों की प्राप्ति हुई है, उन्हे उसी भाव मे रहने दो। तुम प्रतिक्रमण तो करते होओगे मगर वह केवल व्यवहार साधने के लिए ही न रह जाय, इस बात की सावचेती रक्खो। अगर आत्मा की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करोगे तो उससे अवश्य ही अपूर्व लाभ होगा।

यह हुई चक्षु की बात। इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय आदि इन्द्रियाँ भी क्षयोपशमभाव से ही प्राप्त हुई है। इनके अतिरिक्त तुम्हें मन भी प्राप्त है और बुद्धि भी प्राप्त है। इन सब इन्द्रियो का, मन का और बुद्धि का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए, यह विचार करना आवश्यक है। व्यवहार में नाक के विषय में आप यह विचार अवश्य रखते होगे कि अमुक काम करने से हमारा नाक कट जायगा; परन्तु ज्ञानीजनों का कथन है कि व्यवहार के ही समान निश्चय में भी इसी बात का विचार रक्खो कि नाक कटाने के समान खराब कार्य न हों। मानव-सुलभ दुर्बलता के वशीभूत होकर कदाचित् असत्कार्य कर बैठो तो उनके लिए पश्चात्ताप करके प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए और इस प्रकार प्रतिक्रमण द्वारा पर-स्थान में गये हुए आत्मा को स्वस्थान पर लाना चाहिए।

सुगंधित और स्वादिष्ट वस्तु तुम्हें अच्छी लगती है। मगर किसी भी वस्तु का उपयोग करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि वह वस्तु शरीर को टिकाये रखने के लिए आवश्यक है या केवल जिह्वालोलुपता का पोषण करने के लिए ही उसका उपयोग किया जा रहा है? जो पदार्थ देखने में और स्वाद में प्रिय लगते हैं, उनका उपयोग तो आप करते हैं, मगर यदि पदार्थ के गुण अव-गुण का विचार करके उसका उपयोग किया जाय तो दवा लेने की

स्पर्शेन्द्रिय का भी इसी प्रकार दुरुपयोग किया जा रहा है। क्षायोपशमिकभाव से प्राप्त स्पर्शेन्द्रिय को किस प्रकार उदयभाव में लाया जाता है, इस पर विचार किया जाय तो पता चले ! जब कोई वस्तु पहले-पहल सामने आती है तो वह खराब लगती है, लेकिन बार-बार के उपयोग से वह अच्छी लगने लगती है। अगर किसी वस्तु को देखकर पहले ही उसका उपयोग न किया जाय तो उससे बचाव हो सकता है, मगर उपयोग करने के बाद फिर उससे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ—चर्बी के वस्त्र यदि पहले से ही न पहने जाएँ तो उनसे बचना कठिन नहीं है, मगर वस्त्रों का उपयोग करने के पश्चात्, आदत हो जाने पर, त्याग करने में कठिनाई मालूम पड़ती है। चर्बी के इन वस्त्रो के पहनने से कैसा और कितना पाप हो रहा है, इस बात का विचार अगर प्रतिक्रमण करते समय किया जाय तो इन वस्त्रो को त्याग करने की इच्छा हुए विना नहीं रह सकती।

कहने का आशय यह है कि उदयभाव में प्राप्त इन्द्रियों को और मन को उदयभाव के कार्य से विलग करके आत्मा के गुणों में स्थापित करना प्रतिक्रमण है। आप प्रत्येक वस्तु के विषय में प्रतिक्रमणपूर्वक विचार करे कि—'मैं जिन-जिन पदार्थों का इन्द्रियों द्वारा उपभोग करता हूँ, वह पदार्थ वास्तव में मेरे लिए हानिकारक है या लाभकारक है?' प्रत्येक पदार्थ का उपयोग करते समय इस प्रकार का विवेक करने की आवश्यकता है। पेट को 'लेटर-बोक्स' बनाना उचित नहीं है अर्थात् जैसे लेटरबोक्स का मुँह हमेशा चिट्ठी डालने के लिए खुला रहता है, उसी प्रकार तुम्हारा पेट भी भोजन के लिए सदा खुला नहीं रहना चाहिए। ऐसा होने से कितनी हानि होती है, इस बात का विचार कीजिए और अपनी आत्मा को औद-

करने के समान है। इस प्रकार अनेक हानियाँ उत्पन्न करने वाली चाय जीभ की लोलुपता को पुष्ट करने के लिए पीई जाती है या और किसी प्रयोजन से ? चाय की ही भाँति बीडी-सिगरेट आदि हानिकारक पदार्थ भी जीभ के स्वाद के लिए ही काम में लाये जाते हैं। न जाने बीड़ी-सिगरेट में ऐसा क्या स्वाद है कि पीने वाले उनका पिंड नहीं छोड़ते ! पेट में घुसने वाला धुँआ क्या स्वाद देता है ? यद्यपि बीड़ी-सिगरेट मे कोई सुस्वाद नहीं है फिर भी छोटे छोटे बालक तक बीड़ी पीते हैं ! उन बालकों को किसी न किसी रूप में बड़े-बूढ़े ही बीडी पीना सिखलाते हैं। बड़े-बूढ़े जिस बाडी को पीकर फेंक देते हैं, उसी को बालक उठा लेते हैं, और पीने लगते है। धीरे-धीरे वह पीना सीख जाते हैं।

इस प्रकार केवल शौक के लिए हानिकारक वस्तुओं का उपयोग किया जाता है, जिससे इहलोक की भी हानि होती है और परलोक की भी हानि होती है। प्राचीन काल में इस प्रकार के पाप नहीं होते थे, अतः सीधा कंदमूल और रात्रिभोजन त्याग वगैरह का उपदेश दिया जाता था। लेकिन आजकल तो बहुतेरे नवीन पाप उत्पन्न हो गये हैं। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि पहले किस पाप का त्याग करना चाहिए ? कल्पना करो कि एक मनुष्य बीड़ी पीता है और दूसरा आदमी कंदमूल का शाक खाता है। यद्यपि दोनो वस्तुएँ त्याज्य हैं और दोनों का ही त्याग कराना उचित है किन्तु पहले किस वस्तु का त्याग कराना उचित कहा जा सकता है ? मेरे विचार से बीड़ी पीना अनर्थदंड का पाप है। इस प्रकार क्षायोपशमिकभाव से मिली हुई रसनेन्द्रिय को धूम्रपान द्वारा औदयिक भाव में लाया जाता है। ऐसे करने वाले लोग स्वयं पापात्मा बनते हैं और दूसरों को भी पापात्मा बनाते हैं।

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज बहुत बार कहा करते थे कि पक्का मकान थोड़े दिनों तक सँभाला न जाय और उस मकान में जब कोई छिद्र दृष्टिगोचर हो तब छिद्र को ढँक दिया जाय तो उस मकान के तत्काल पड़ जाने की सम्भावना नहीं रहती और न उसे और कोई हानि होने का डर रहता है; परन्तु जो मकान कच्चा होता है उसे निरन्तर सम्भालने की आवश्यकता बनी रहती है और कहीं जरासा छिद्र नज़र आया कि तत्काल मून्द देना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार बीच के बाईस तीर्थंकरो के शासन के साधुओं के व्रत पक्के मकान सरीखे होते हैं। अतएव जब वे अपने व्रतों में छिद्र देखते हैं तो प्रतिक्रमण करते हैं, छिद्र नहीं देखते तो प्रतिक्रमण भी नही करते। परन्तु चौबीसवें तीर्थङ्कर के साधुओं के व्रत कच्चे मकान के समान हैं। अतः उन्हे अपने व्रतों की सदैव सार-सम्भाल रखनी चाहिए और व्रतों में पड़े हुए छिद्रों को प्रतिक्रमण द्वारा सांधते रहना चाहिए।

आप अपने कपड़ों में जब छेद पड़ा देखते हैं तो उसे सांध कर बन्द कर देते है, तो फिर व्रतों में पड़े हुए छिद्रों को बन्द करने में कौन बुद्धिमान् पुरुष विलम्ब करेगा ? जो बुद्धिमान् होगा और जो अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता होगा वह अपने व्रतों में पड़े हुए छिद्रों को प्रतिक्रमण द्वारा तत्काल बन्द कर देगा। नौका में छेद हो गया हो और उस छेद के रास्ते नौका में पानी भर रहा हो तो क्या कोई बुद्धिमान् पुरुष उस छेद को बना रहने देगा ? छेद बन्द न किया तो उसके द्वारा नौका में पानी भर जायगा और परिणाम यह होगा कि नौका डूब जायगी। इसी प्रकार अगर व्रतों में हुए छिद्र बन्द न कर दिये जाएँ तो आस्रव रूपी पानी भरे विना नहीं रहेगा और फलस्वरूप व्रत रूपी नौका डूब जायगी। अतएव जैसे

थिकभाव के कार्यों से निवृत्त करके आत्मिक गुणों में ही स्थापित कीजिए। इसी में आपका कल्याण है।

जैनशास्त्र परमात्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की बात कहकर ही नहीं रह जाते। वे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए क्रियात्मक कार्य करने का भी उपदेश देते हैं। प्रतिक्रमण के उपदेश का प्रयोजन ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोड़ना ही है। प्रतिक्रमण करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—प्रतिक्रमण करने से व्रत मे पड़े हुए छिद्र ढँक जाते हैं। अर्थात् अंगीकार किये हुए व्रतों में अतिचाररूपी जो छिद्र पड़ जाते हैं, वह प्रतिक्रमण करने से मिट जाते हैं।

'प्रतिक्रमण' शब्द 'प्रति' और 'क्रमण' इन दो शब्दों के संयोग से बना है, जिसका अर्थ होता है—परस्थान में प्राप्त आत्मा को स्वस्थान पर लाना। स्वीकार किये व्रतों में दोष आना आत्मा का अपने स्थान से पतित होना है। उस पतित स्थान से आत्मा को फिर वापस लौटाना और अपने स्थान पर अर्थात् व्रतपालन में स्थिर करना प्रतिक्रमण कहलाता है।

आत्मा जब व्रतो को अंगीकार करता है तो सावधानी से ही अंगीकार करता है; परन्तु फिर प्राकृतिक दुर्बलता के कारण या छद्मस्थता के कारण व्रतों का पालन करने में किसी न किसी प्रकार की भूल हो जाना सम्भव है। भगवान् ने अपने ज्ञान से यह बात जानकर आज्ञा दी है कि मेरे शासन के साधु-साध्वियों को प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए, क्योंकि इस काल में यह सम्भव नहीं है कि उनके व्रतो में कोई भी दोष न लगे। अतएव नियमितरूप से प्रतिक्रमण करना ही चाहिए।

प्रतिक्रमण करने वाला निरुद्ध-आस्रव (आश्रव-रहित) होने के कारण असबल चारित्र वाला होगा और असबल चारित्र वाला होने के कारण आठ प्रवचन माता का पालन करने मे आरूढ होगा। भगवान् की कही हुई आठ प्रवचन माताएँ आत्मा के लिए माता के समान हैं। प्रवचन की उत्पत्ति भगवान् से ही हुई है। भगवान् के मुख से निकले हुए आठ प्रवचन (पांच समिति, तीन गुप्ति) आत्मा के लिए माता के समान हितकर हैं। इन आठ प्रवचनों में बारह अंगों का समावेश हो जाता है। यद्यपि आठ प्रवचनों की बात साधुओं को लक्ष्य करके कही गई है तथापि वह सभी के लिए हितकारी है।

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपण-समिति और उच्चारादिपरिष्ठापनिकासमिति, यह पाँच समितियाँ हैं और मनोगुप्ति, वचनगुप्ति एवं कायगुप्ति, यह तीन गुप्तियाँ हैं। इस प्रकार इन आठ प्रवचनमाता में समस्त सद्गुणों का समावेश हो जाता है। यह आठ प्रवचन जैसे साधुओं के लिए हितकारी हैं उसी प्रकार गृहस्थों के लिए भी हितकारी हैं।

ईर्यासमिति का अर्थ है—मर्यादापूर्वक गमन करना। मर्यादापूर्वक गमन किस प्रकार करना चाहिए, इसका शास्त्र में बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। यद्यपि यह समिति प्रधानरूप से साधुओं के लिए कही गई है परन्तु आप लोग (श्रावक) भी अगर इसका अभ्यास करें तो बहुत लाभ हो सकता है। एक तो इधर-उधर आँखें घुमाते हुए चलना और दूसरे चार हाथ आगे की भूमि सावधानी के साथ देखते हुए चलना, इसमें बहुत अन्तर है। दृष्टि को एकाग्र करके चलना एक प्रकार की योगक्रिया का अभ्यास है। यह अभ्यास कैसा होता है, यह बात

मकान में से पानी न टपकने देने का खयाल रक्खा जाता है, उसी प्रकार अपने व्रतो की भी सँभाल रखनी चाहिए। जब कभी व्रतों में छिद्र दिखाई दे तो उसे तत्काल बन्द कर देना चाहिए।

मल्ल कुश्ती लड़ने के बाद और वीर योद्धा युद्ध करने के बाद, संध्या समय अपनी शुश्रूषा करने वाले को बतला देता है कि आज सारे दिन में मुझे अमुक जगह चोट लगी है और अमुक जगह मुझे दर्द हो रहा है। जब मल्ल या योद्धा अपना दर्द बता देता है तो शुश्रूषा करने वाला सेवक औषध या मालिश द्वारा उस दर्द को मिटा देता है और दूसरे दिन मल्ल कुश्ती करने के लिए और योद्धा युद्ध करने के लिए तैयार हो जाता है। इसके विपरीत मल्ल या योद्धा अपना दर्द शुश्रूषा करने वाले सेवक के आगे प्रकट न करे बल्कि छिपा ले तो उसका दर्द दूर न होगा और नतीजा यह होगा कि मल्ल कुश्ती करने और योद्धा युद्ध करने के लिए फिर जल्दी तैयार नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार जो साधु दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण में अपने व्रतो की सारणा-वारणा कर लेता है और लगे हुए दोषो को प्रतिक्रमण द्वारा दूर कर देता है, वह साधु निश्चित रूप से अपने कर्मों को जीत लेता है।

कहने का आशय यह है कि प्रतिक्रमण द्वारा आस्रव रूपी पानी आने का छिद्र ढँक जाता है और प्रतिक्रमण करने वाला निरुद्ध-आस्रव बन जाता है। निरुद्ध-आस्रव होने से उसका चारित्र भी असबल अर्थात् निर्मल रहता है। सबल का अर्थ है-मलीन-खराब। किसी वस्तु में दाग लग जाने से खराबी आ जाती है, उसे सबल कहते हैं। दाग वाली वस्तु अच्छी नहीं कहलाती। व्रतों मे लगा हुआ दाग प्रतिक्रमण रूपी निर्मल नीर से धुल जाता है और इस कारण चारित्र निर्मल रहता है।

साधुओं के लिए कठोर भाषा बोलने का निषेध किया गया है तो क्या इसका अर्थ यह है कि आपको कठोर भाषा बोलना चाहिए ? कठोर भाषा बोलने से निश्चय और व्यवहार में आपको भी हानि ही होती है। इतना होने पर भी आज भाषा का बहुत दुरुपयोग होता दिखाई देता है। कायर लोग जीभ का जैसा दुरुपयोग करते हैं, वीर पुरुष वैसा दुरुपयोग नहीं करते। कुत्ते भौंकते हैं, वीर सिंह कभी नहीं भौंकता। यह बात दूसरी है कि सिंह गर्जना करता है, मगर वह अपने आप गर्जता है, कुत्तों की भाँति दूसरों को देखकर नहीं। जैसे कुत्ते अपनी वाणी का दुरुपयोग करते हैं, उसी प्रकार कायर लोग भी अपनी वाणी का दुरुपयोग किया करते हैं। मगर इस प्रकार वाणी का दुरुपयोग करना योग्य नहीं है। हमारी जीभ से कैसी वाणी निकल रही है, इस बात का ध्यान आज बहुत कम लोग रखते हैं। उचित तो यह है कि बोलने से पहले प्रत्येक बात पर विवेकपूर्वक विचार कर लिया जाय कि मेरे भाषण में असत्य, भय या क्रोध तो नहीं है ? 'तं सच्चं खु भयवं' अर्थात् सत्य ही भगवान है, इस सिद्धान्त का ध्यान बोलते समय रक्खा जाय तो वाणी सार्थक होती है।

शास्त्र का कथन है कि वचन को गुप्त रखना चाहिए और यदि बोलने की आवश्यकता ही हो तो क्रोध या भय आदि किसी भी कारण से कठोर अथवा असत्य भाषण नहीं करना चाहिए। शास्त्र के अनुसार क्रोध के अधीन होकर बोला हुआ सत्य भी असत्य ही है। क्योंकि जो क्रोध के अधीन होकर बोलता है वह स्वतन्त्र होकर नहीं वरन् परतन्त्र होकर बोलता है। स्वाधीनतापूर्वक बोली हुई वाणी ही सही हो सकती है। अतएव सदैव भाषासमिति का ध्यान रखना चाहिए। जीभ के विषय मे वैताल कवि ने कहा है :—

अनुभव से ही जानी जा सकती है। चलने की क्रिया जान लेने से निश्चय और व्यवहार दोनों मे बहुत लाभ है और चलने की क्रिया न जानने के कारण निश्चय और व्यवहार—दोनों में हानि होती है। अमेरिकन विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा है कि जैसा प्राणायाम चलते समय हो सकता है, वैसा दूसरे समय नहीं हो सकता। इतना होने पर भी लोग चलने की क्रिया नहीं जानते। शास्त्र में साधुओं के लिए कहा है कि उन्हे चलते समय मनोगुप्ति और वचनगुप्ति का पालन करना चाहिए तथा चलते समय स्वाध्याय वगैरह किसी भी बात की ओर ध्यान न देते हुए इसी बात का खास ध्यान रखना चाहिए कि मेरा पैर कहाँ पड़ रहा है ? और मेरे पैर से किसी जीव को आघात तो नहीं पहुँच रहा है ? इस बात का ध्यान रखने से प्रतिक्रमण करते समय, हुए ईर्यावही पाप का प्रक्षालन हो जाता है।

शास्त्र कहते हैं कि चलते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी दूसरे की गति कदापि न रुके। जब कीड़ी की गति का भंग करना भी निषिद्ध ठहराया गया है तो फिर मनुष्य की—जो पचेन्द्रिय है—गति भंग करके उसे परतंत्रता में डालना क्या पाप न होगा ? जो आत्मा असबल चारित्रवाला होगा, वह ईर्यासमिति का बराबर पालन करेगा। असबल चारित्रवान् बनने के लिए ईर्या-समिति का पालन करना आवश्यक है।

मुनि को ईर्यासमिति के समान भाषासमिति का भी ध्यान रखना चाहिए। कीड़ी, मक्खी या अन्य जानवरों के साथ बातचीत नहीं की जाती। बातचीत मनुष्यों के साथ ही की जाती है। अतएव बातचीत करते समय भय, हँसी, क्रोध या अन्य किसी कारण से कठोर भाषा नहीं बोलना चाहिए।

चाहिए और न फेंकना चाहिए, जिससे देखने वाले को घृणा हो या गन्दगी का आभास हो। यहाँ (जामनगर–काठियावाड़) देखा जाता है कि वर्षा का जो पानी गड्ढों में भर जाता है और उसमें कीड़े पड़ जाते हैं, उन कीड़ों को स्त्रियाँ एकत्र करके सुरक्षित जगह में रख देती हैं। स्त्रियों की यह दया प्रशस्त है। किन्तु जो स्त्रियाँ ऐसे जीवो पर भी इतनी दया रखती हैं उन्हें अपने घर में किस प्रकार वर्त्तना चाहिए और कितनी अधिक स्वच्छता रखनी चाहिए ? अगर वे अपने घर मे गन्दगी रखती हैं तो दया का भी उपहास कराती हैं। उनका व्यवहार देखकर लोग यही कहेंगे कि जैनों की यह कैसी दया है जो घर में तो गन्दगी रखते हैं और बाहर इस प्रकार जीव बचाते हैं ! यहाँ लोगो के घरों में इतनी गन्दगी रहती है कि न पूछो बात ! शास्त्र में गन्दगी रखने का विधान कहीं नहीं है, प्रत्युत शास्त्र तो शौच-स्वच्छता पवित्रता को ही प्रधानता देता है। केवल नहाना-धोना या पानी बहाना ही शौच नहीं है, किन्तु 'शौचात् स्वाङ्ग-जुगुप्सा परैरसंसर्गः' अर्थात् शरीर की अशुचि का विचार करने से अपने अंग पर जुगुप्सा और दूसरे के अंग पर असंगभाव उत्पन्न होगा। तात्पर्य यह है कि आत्मा की शुद्धि ही सच्ची शुचि है।

कहने का साराँश यह है कि शौच का सदैव ध्यान रखना चाहिए। शौच का ध्यान रखने से पाँचवी समिति का बराबर पालन हो सकता है। इसी प्रकार तीन गुप्तियों का भी भलीभाँति पालन करना चाहिए। असबल चारित्रवान् पुरुष भगवान् द्वारा प्ररूपित आठ प्रवचनों का पालन करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

पहले कहा जा चुका है कि प्रतिक्रमण करने से व्रतों के छिद्र बन्द हो जाते हैं और छिद्र बन्द होने से कर्मों का आना (आस्रव) रुक जाता है और आत्मा 'निरुद्धास्रव' बन जाता है।

जीभ जोग अरु भोग जीभ ही रोग बुलावे,
जिभ्या से जस होय जीभ से आदर पावे।
जीभ करे फजहीत जीभ जूता दिलवावे,
जीभ नरक ले जाय जीभ वैकुँठ पठावे॥
अदल तराजू जीभ है, गुण अवगुण दोउ तोलिये।
वैताल कहे विक्रम ! सुनो, जीभ सँभालकर बोलिये॥

इस प्रकार जीभ से भलाई भी होती है और बुराई भी होती है। अतएव बोलने मे विवेक रखना चाहिए। अगर विवेक न रह सकता हो तो उस दशा में मौन रहना ही श्रेयस्कर है। कहा भी है—'मौनं मूर्खस्य भूषणम्' अर्थात् मूर्ख पुरुष के लिए मौन ही भूषण है।

कतिपय लोग वाणी का ऐसा दुरुपयोग करते हैं कि वह उनकी भी अप्रतिष्ठा का कारण बनती है और दूसरों को भी उससे बुरा लगता है। अतएव बोलने में बहुत ही विवेक रखना चाहिए। वाणी का बड़ा महत्व है। उपनिषद् में कहा है—भोजन का सार भाग वाणी को ही मिलता है। इस प्रकार वाणी में शरीर की प्रधान शक्ति रहती है। वाणी की जितनी रक्षा की जाय उतना ही लाभ है। थोड़ी देर बोलने में तुम्हे कितना श्रम मालूम होता है ! इसका कारण यही है कि बोलने से शरीर की प्रधान शक्ति का व्यय होता है। वैज्ञानिकों के कथनानुसार जीभ मे तोप से भी अधिक शक्ति है। इसलिए बोलने में विवेक की बड़ी आवश्यकता है।

इसी प्रकार एषणासमिति और आदान-निक्षेपणसमिति में भी ध्यान रखना आवश्यक है और इसी प्रकार पाँचवीं समिति में भी विवेक रखना चाहिए। कोई भी चीज ऐसी जगह नहीं रखना

है। आत्मा में जो ममत्व और अज्ञान है, उसी के कारण ऐसा होता है। परन्तु आत्मा को इस बात का विचार करना चाहिए कि मैं क्या रक्त-मांस हूँ? इस प्रश्न पर विचार न करने के कारण ही आत्मा संयमयोग से जुदा पड गया है। जब आत्मा आठ प्रवचनों का पालन करता हुआ भावप्रतिक्रमण करता है तब उसकी संयम-योग से भिन्नता नहीं रहती और एकता स्थापित हो जाती है।

यह तो निश्चय की बात हुई कि भावप्रतिक्रमण से आत्मा की संयमयोग से जो जुदाई है, वह मिट जाती है। लेकिन निश्चय की यह बात हम व्यवहार में कैसे समझें? जैन-सिद्धान्त में ऐसी-ऐसी विशेषताएँ भरी पड़ी हैं कि उनका वर्णन करना भी अत्यन्त कठिन है। कुछ लोग तो केवल निश्चयनय को ही इस प्रकार पकड़ बैठते हैं कि व्यवहार की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे भी हैं जो व्यवहार मे ही रह जाते हैं और निश्चय का विचार तक नहीं करते। परन्तु जैन-सिद्धान्त निश्चय और व्यवहार—दोनो को एक साथ रखता है। इसीलिए यहाँ यह देखना है कि भावप्रतिक्रमण से आत्मा की संयमयोग के साथ अभिन्नता होती है, इस निश्चय की बात को व्यवहार में किस प्रकार समझ सकते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र का कथन है कि जब भावप्रतिक्रमण होगा तब इन्द्रियाँ सुप्रणिहित होंगी अर्थात् इन्द्रियों में भीतर-बाहर ऐसी शान्ति आ जायगी कि देखने वाले के हृदय मे भी समाधि उत्पन्न होगी। इस प्रकार भावप्रतिक्रमण की यह बाह्य परीक्षा होने से भावप्रतिक्रमण के नाम पर होने वाली ठगाई रुक जाती है। जैसे बगुला धीरे से एक पैर रखने के बाद दूसरा पैर उठाता है, किन्तु उसके हृदय में भावना कुछ और ही रहती है, उसी प्रकार बहुत से लोग दुनिया को अपना संयमयोग

निरुद्धास्त्रव होने से आत्मा पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचनों का पालन करने मे दत्तचित्त बनता है और प्रवचनों के पालन में दत्तचित्त होने से संयमयोग के साथ आत्मा की अभिन्नता उत्पन्न होती है। अर्थात् आत्मा संयम के योग से जो भिन्न जा पड़ा है, वह भिन्नता नही रह जाती। पानी जब तक समुद्र से जुदा रहता है तब तक उसमें और समुद्र मे जुदाई जान पड़ती है, परन्तु जब पानी समुद्र में मिल जाता है तो जुदाई मिट जाती है। समुद्र मे मिलने से पहले पानी जुदा मालूम होता है क्योंकि बीच में पात्र है। पानी जब तक पात्र में है, तब तक वह समुद्र में नहीं मिल सकता और इसी कारण पात्र का पानी समुद्र से भिन्न मालूम होता है। बीच में पात्र न हो तो समुद्र के पानी और पात्र के पानी में कोई अन्तर न रहे। इसी प्रकार आत्मा मोह के कारण संयमयोग से भिन्न हो रहा है। यो तो आत्मा स्वरूपतः संयमयोग से भिन्न नही है, किन्तु भिन्नता आ गई है और उस भिन्नता का कारण मोह है। आत्मा किस प्रकार संयमयोग से भिन्न जा पड़ा है, इसके विषय में श्रीसूयगडांगसूत्र में कहा है—

जेसिं कुले समुप्पन्ने जेहिं वासं वसे नरे।
मम्माइ लुप्पई बाले, अन्नमन्नेणं जीविणो ॥

इस गाथा का आशय यह है कि आत्मा जिसके साथ रहता है और जिस कुल मे उत्पन्न होता है, अपने आपको वैसा ही मान लेता है। उदाहरणार्थ—नीचे मान जाते लोग भी अपनी जाति में रचे-पचे रहते हैं। जब नीच समझे जाने वाले प्राणी भी अपनी जाति में रचे-पचे रहते हैं तब स्पष्ट जान पड़ने लगता है कि आत्मा जिसके साथ रहता है अथवा जिस कुल में उत्पन्न होता है, वैसा ही अपने को मानने लगता है। इस प्रकार मान बैठने का कारण मोह

रूप में प्रकट करते हैं, वे ठग और पाखंडी हैं। गीता में भी कहा है-

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, यः आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा, मिथ्याचारः स उच्यते ॥

जिसके हृदय में विकार भरे हैं और जिसकी इन्द्रियाँ विषय-वासना की ओर दौड़ा करती है, वह ऊपर से अपने को भले ही संयमी प्रकट करे मगर वास्तव में वह मिथ्याचारी-पाखंडी है।

इस प्रकार संयमयोग में प्रवृत्त न होते हुए भी जो अपने को संयमयोग में प्रवृत्ति करने वाला प्रकट करता है, उसकी निंदा सभी ने की है। इसी प्रकार संयमयोग में प्रवृत्त होने वाले महात्माओं की प्रशंसा भी सभी ने की है। वास्तव में संयमयोग में वर्त्तने वाले महात्मा धन्य हैं। ऐसे महात्माओं का सत्संग भी सौभाग्य से प्राप्त होता है। महापुरुषों का सत्संग होना भी एक बड़ा सौभाग्य है।

अब हमें विचार करना है कि हमें क्या करना चाहिए? करना यही है कि जब आप देवसी, रायसी, पाक्षिक, चातुर्मासिक या संवत्सरी का प्रतिक्रमण करें तब यह देखे कि हम अपने व्रतों से कहाँ-कहाँ गिरे हैं? जहाँ-जहाँ आप गिरे हों, उस जगह से अपने आपको हटाकर ठिकाने पर आइए। शास्त्र का कथन है कि जो पुरुष जिस योग में प्रवृत्त हो रहा हो वह उसी योग में अपनी आत्मा को सँभाले रहे। जिसकी इच्छा संयमयोग में वर्त्तने की होगी वह अपनी आत्मा को बराबर सँभाल कर रक्खेगा।

शास्त्र की यह बात ध्यान में रखते हुए अपनी आत्मा को संयमयोग में प्रवृत्त करने का प्रयत्न करना चाहिए और आत्मा व्रत में से जहाँ कहीं पतित हुआ हो उस स्थान से उसे हटाकर यथास्थान

दिखाने के लिए बाहरी रूप कुछ और ही दिखलाते हैं और इस प्रकार अपनी ठगाई जारी रखते हैं। किन्तु शास्त्र व्यवहार की यह परीक्षा बतलाता है कि जिनकी आत्मा संयमयोग से अभिन्न होगी, उनकी इन्द्रियाँ सुप्रणिहित होनी चाहिए अर्थात् उनकी इन्द्रियों मे भीतर और बाहर ऐसी शान्ति होगी कि देखने वाले के दिल में समाधि उत्पन्न हुए विना नहीं रहेगी।

साधारणतया संसार में शुक्ल पक्ष भी है और कृष्ण पक्ष भी है, अर्थात् संयमयोग में प्रवृत्त होने वाले भी हैं और संयमयोग के नाम पर ठगाई करने वाले भी हैं। शास्त्र दोनों की स्पष्ट परीक्षा बतलाकर कहता है कि जिसकी आत्मा संयमयोग में वर्त्तती होगी, उसकी इन्द्रियो का प्रणिधान होना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रकृति भी संयमयोग में वर्तने वाले की साक्षी देती है। उदाहरणार्थ-किसी जगह ढाल (उतार) है या नहीं, यह जानने में कदाचित् तुम असमर्थ हो सकते हो, मगर पानी तत्काल उतार का पता लगा लेता है और जिधर उतार होता है उधर ही बहने लगता है। इसी प्रकार शास्त्र मे कथित परीक्षा द्वारा संयमयोग में वर्तने वाले की पहचान कदाचित् आप न कर सकें मगर प्रकृति तो बतला ही देती है कि यह संयमयोग में प्रवृत्ति करने वाला है या नहीं ? आपने यह तो सुना ही होगा कि प्राचीन काल में मुनियों की गोद में सिंह भी लोटा करते थे। सिंह कपटी लोगों की गोद में नहीं लोटते। वे उसकी गोद में लोटते हैं, जिनकी आत्मा संयमभोग में वर्त्तती है और जिनकी इन्द्रियाँ सुप्रणिहित होती हैं। यह संयमयोगी की परीक्षा है। जो संयमयोग में प्रवृत्त होगा उसकी परीक्षा प्रकृति भी इस रूप में प्रकट कर देती है।

जिनकी इन्द्रियाँ सुप्रणिहित नहीं हैं अर्थात् विषयवासना की तरफ दौड़ती रहती हैं, फिर भी जो लोग अपने को संयमयोगी के

१६

बारहवाँ बोल।

कायोत्सर्ग

आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण के विषय में कहा जा चुका है। प्रतिक्रमण के पश्चात् कायोत्सर्ग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रतिक्रमण करते समय व्रतों के अतिचार रूपी घाव देखकर, उन्हें बन्द करने के लिए कायोत्सर्ग रूपी औषध लगाई जाती है। जिस प्रकार मैले कपड़े धोये जाते हैं और उनका मैल दूर किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा के व्रत रूपी वस्त्र पर अतिचार रूपी जो मैल चढ़ गया है, उसे साफ करने के लिए कायोत्सर्ग रूपी जल से धोना पड़ता है। यही कायोत्सर्ग है। जिस किसी उपाय से शरीर को ही नष्ट कर डालना कायोत्सर्ग नहीं है, वरन् शरीर सम्बन्धी ममता को त्याग देना ही सच्चा कायोत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग के विषय में भगवान् से प्रश्न किया गया है—

मूलपाठ

प्रश्न—काउस्सग्गेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

लाना चाहिए। जो चलता है, कहीं न कहीं उसका पैर फिसल ही जाता है। एक बार पैर फिसलने से वह सावधान बन जाता है, मगर उसकी सावधानी वहीं होती है जहाँ उसका पैर फिसलता है।

प्रतिक्रमण करना एक प्रकार से फिसली हुई आत्मा को सावधान करना ही है। प्रतिक्रमण करना आत्मारूपी घड़ी को चाबी देना है। अगर कोई घड़ी ऐसी हो कि जब तक उसमें चाबी घुमाई जाती रहे तब तक वह चलती रहे और चाबी घुमाना बन्द करते ही वह बन्द भी हो जाय, तो यही कहा जायगा कि वह घड़ी बिगड़ी है। एक बार चाबी देने पर नियत समय तक चलने वाली घड़ी ही अच्छी घड़ी कहलाती है। इसी प्रकार एक बार प्रतिक्रमण-रूपी चाबी देने के पश्चात् आत्मा को नियत समय तक तो सावधान रहना ही चाहिए। अगर प्रतिक्रमण करते समय आत्मा शुभयोग में रहे और प्रतिक्रमण बन्द करते ही शुभयोग से गिर जाय तो बिगड़ी घड़ी के समान ही उसका व्यवहार कहना चाहिए।

कहने का अभी समय नहीं है, फिर भी यहाँ थोड़ा-सा विवेचन करना आवश्यक है।

काय का त्याग दो प्रकार से होता है—प्रथम तो जीवन भर के लिए और दूसरे परिमित समय के लिए। जीवन भर के लिए किये जाने वाले कायोत्सर्ग के दो भेद हैं। एक यावज्जीवन कायोत्सर्ग उपसर्ग आने पर किया जाता है और दूसरा बिना उपसर्ग ही यावज्जीवन कायोत्सर्ग किया जाता है। उपसर्ग उपस्थित होने पर यावज्जीवन के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है, उसमें यह भावना रहती है कि उपसर्ग के कारण अगर मैं मर गया तो मेरा यावज्जीवन कायोत्सर्ग है; अगर मै जीवित बच गया तो जब तक उपसर्ग रहे तब तक के लिए ही यह कायोत्सर्ग है। निरुपसर्ग यावज्जीवन कायोत्सर्ग में ऐसा कोई आगार नही रहता। निरुपसर्ग यावज्जीवन कायोत्सर्ग में पादोपगमन संथारा ऐसा होता है कि जैसे वृक्ष में से काट डाली गई डाली निश्चेष्ट हो जाती और सूख जाती है, उसी प्रकार यह संथारा धारण करने वाले महात्मा अपने शरीर को 'शुष्क' कर डालते हैं। इस प्रकार का संथारा न कर सकने वाले के लिए इंगितमरण संथारा बतलाया गया है। लेकिन जो लोग इंगितमरण संथारा भी नहीं कर सकते, उनके लिए चौविहार या तिविहार का त्याग रूप यावज्जीवन कायोत्सर्ग बतलाया गया है। किन्तु इस प्रकार के सब निरुपसर्ग यावज्जीवन कायोत्सर्ग तभी किये जाते हैं जब ऐसा प्रतीत हो कि मरणकाल समीप आ गया है। मरणकाल सन्निकट न आया हो तो इस प्रकार का कायोत्सर्ग अर्थात् संथारा नहीं किया जा सकता। यों तो कायोत्सर्ग अर्थात संथारा करना अच्छा ही है किन्तु जब तक मरणसमय सन्निकट नहीं है या संथारा करने का कोई कारण नहीं है, तब तक इस प्रकार

उत्तर–काउसग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवहे पसत्थधम्मझाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—कायोत्सर्ग करने से भूतकाल के और वर्त्तमानकाल के अतिचारों को प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्ध करता है और इस प्रकार शुद्ध हुआ जीव, जैसे सिर का बोझ उतरने से मजदूर सुखी होता है, उसी प्रकार अतिचार रूपी बोझ उतर जाने से उत्तम धर्मध्यान में लीन होता हुआ, इह लोक और परलोक में सुखी होता है और अनुक्रम से मोक्ष–लाभ करता है।

व्याख्यान

कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में ऊपर भगवान् ने जो फरमाया है, उस पर विचार करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि कायोत्सर्ग का अर्थ क्या है ? टीकाकार 'कायोत्सर्ग' का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि काय का उत्सर्ग अर्थात् त्याग करना कायोत्सर्ग है। काय के उत्सर्ग या त्याग करने का अर्थ यह नहीं है कि शस्त्र के आघात से, विषपान से या अग्नि-पानी मे कूद करके मर जाना और इस प्रकार शरीर का त्याग कर देना। किन्तु शास्त्र में कही हुई रीति के अनुसार काय का त्याग करना ही कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग के विषय में शास्त्र में खूब स्पष्टीकरण किया गया है। उन सब स्पष्टीकरणों को स्पष्ट रूप से

उपसर्ग आने पर कायोत्सर्ग करने का महत्व यह है कि सुदर्शन को अर्जुन माली पर उस समय क्रोध नहीं आया। अब यह कहा जा सकता है कि ऐसा ही है तो यावज्जीवन कायोत्सर्ग करने की क्या आवश्यकता है ? मर्यादित समय के लिए ही कायोत्सर्ग क्यों न किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सम्भव है, उपसर्ग में ही मरण हो जाय। यह बात दृष्टि में रखकर ही यावज्जीवन कायोत्सर्ग किया जाता है।

कहा जा सकता है कि फिर वह कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए ही क्यों नहीं रक्खा जाता ? उपसर्ग से बचने के बाद वह त्याग क्यों नहीं माना जाता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मरण-काल समीप न होने पर भी कायोत्सर्ग करना उचित नहीं है। ऐसा कायोत्सर्ग आत्महत्या की कोटि में दाखिल हो जाता है। आत्महत्या का पाप भी न लगे और उपसर्ग से बचने के बाद कायोत्सर्ग भंग करने का पाप भी न लगे, इसी उद्देश्य से उपसर्ग के समय यावज्जीवन कायोत्सर्ग करने पर भी यह छूट रक्खी जाती है कि अगर मैं उपसर्ग से बच जाऊँ तो मेरे त्याग नहीं है। उपसर्ग से बचने के बाद शरीर की सँभाल तो रखनी ही पड़ती है, अतएव मर्यादित त्याग किया जाता है। इस प्रकार का मर्यादित त्याग साधु अपनी रीति से करते हैं और श्रावक अपनी रीति से।

सोते समय भी इस प्रकार का संथारा करने की पद्धति है कि अगर सोते-सोते ही मेरा मरणकाल आ जाय तो मेरे यावज्जीवन संथारा है। सोते समय संथारा करने की ऐसी पद्धति है। किन्तु इस प्रकार के संथारे में भावना की प्रबलता होना आवश्यक है। ऐसा संथारा करने के पश्चात् मन सांसारिक कामों में नहीं लगना चाहिए। कहा जा सकता है कि संस्कार के कारण स्वप्न तो आते ही

के कायोत्सर्ग करने का विधान नही है। अतएव योग्य समय प्राप्त होने पर संथारा करना ही उचित है।

सिंह वगैरह का कोई प्राणघातक उपसर्ग उपस्थित होने पर भी संथारा किया जाता है, किन्तु वह संथारा इस रूप में किया जाता है कि अगर इस उपसर्ग से मेरे प्राण चले जाएँ तो यावज्जीवन के लिए मेरा कायोत्सर्ग है और यदि इस उपसर्ग से बच जाऊँ तो मेरा यह कायोत्सर्ग जीवनभर के लिए नही है।

कहा जा सकता है कि यह कायोत्सर्ग तो 'वृद्धा नारी पतिव्रता' की उक्ति चरितार्थ करता है। अर्थात् उपसर्ग से न बचे तो त्याग है, बच गये तो त्याग नहीं है, भला यह भी कोई त्याग है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि उपसर्ग के समय इस प्रकार का त्याग करने से उपसर्ग के कारण पर क्रोध नहीं भड़कता। कायोत्सर्ग करने के बाद, उपसर्ग के कारण के प्रति इस प्रकार का क्रोध नहीं होता कि 'मैंने इसका क्या विगाड़ा था कि यह मुझे कष्ट पहुँचा रहा है! जब उपसर्ग के कारण पर क्रोध नही आता और उपसर्गदाता पर भी शान्तभाव बना रहता है, तभी कायोत्सर्ग ठीक रह सकता है। कायोत्सर्ग करने पर भी यदि उपसर्ग करने वाले के प्रति क्रोध उत्पन्न हुआ तो वह कायोत्सर्ग ही नहीं है।

अर्जुन माली सुदर्शन श्रावक को जब मारने आया था तब सुदर्शन को उस पर क्रोध आना संभवित था। लेकिन सुदर्शन ने अर्जुन पर क्रोध नही किया, बल्कि अपना मित्र समझा। उसने विचार किया कि अर्जुन परीक्षा ले रहा है कि मुझ में क्रोध है या नही? मैं भगवान् का सच्चा भक्त हूँ या नही? अतएव हे प्रभो! मैं तुमसे यही प्रार्थना करता हूँ कि अर्जुन मित्र पर मुझे कदापि क्रोध न आवे!

कुछ लोगों का कहना है कि किये हुए पाप का फल भोगना ही पड़ता है। मगर जब सब चीजों की विशुद्धि होती है तो पाप की ही विशुद्धि क्यो न होगी? जब संसार की समस्त वस्तुओ की विशुद्धि हो सकती है तो फिर अतिचार से अशुद्ध आत्मा की विशुद्धि न होने का क्या कारण है?

संसार की समस्त वस्तुएँ शुद्ध की जा सकती हैं और दूसरे लोगों ने इस प्रकार की शुद्धता करके लाभ भी प्राप्त किया है; मगर हिन्दूजाति ने यह शुद्धि नहीं अपनाई और इसी कारण उसे हानि उठानी पड़ी। हिन्दूजाति ने यह समझ लिया कि एक बार जो अशुद्ध हो गया सो बस हो गया, वह फिर कभी शुद्ध नहीं हो सकता। सोना भी अशुद्ध होता है लेकिन वह शुद्ध कर लिया जाता है। अगर कोई चौकसी (सर्राफ) सोने को शुद्ध करने के बजाय फैंक दे और यह समझ ले कि एक बार अशुद्ध हो जाने के बाद उसको शुद्धि हो ही नहीं सकती तो उसका दीवाला निकल जायगा या नहीं? वास्तव मे यह मानना भूल है कि किये हुए पापों की शुद्धि नहीं हो सकती। पापों की विशुद्धि अवश्य हो सकती है। अगर पापों की विशुद्धि असम्भव होती तो सामायिक-प्रतिक्रमण करना भी व्यर्थ हो जाता! पापो की विशुद्धि होती है मगर जैसा पाप हो वैसा ही प्रायश्चित्त होना चाहिए! कपड़े पर जब तक किसी प्रकार की अशुचि लगी हो तब तक उसके प्रति घृणा बनी रहती है, मगर कपड़ा धोकर साफ कर लेने के पश्चात् पहना ही जाता है। इसी प्रकार अपने पापों को कायोत्सर्ग द्वारा धो डालने से आत्मा निष्पाप हो जाता है।

व्रतों में अतिचार लगने से जो पाप आत्मा के लिए बोझ-रूप हो जाते हैं, कायोत्सर्ग द्वारा आत्मा उस बोझ से निवृत्त हो

होंगे ! मगर स्वप्न आने पर प्रायश्चित्त लेना चाहिए और उसका प्रतिक्रमण करना चाहिए। अलबत्ता, जहाँ तक हो सके, सोते समय मन में किसी भी प्रकार का सांसारिक संस्कार नहीं रहने देना चाहिए।

कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—कायोत्सर्ग करने से अतीतकाल और वर्त्तमानकाल के पापों के प्रायश्चित्त की विशुद्धि होती है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि अतीतकाल के प्रायश्चित्त की विशुद्धि तो ठीक है, पर भूतकाल की विशुद्धि में वर्त्तमानकाल के प्रायश्चित्त की विशुद्धि किस प्रकार होती है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए टीकाकार कहते हैं कि समीप का भूतकाल भी वर्त्तमानकाल ही कहा जाता है। अतीतकाल का अर्थ दूरवर्त्ती पिछला काल है और वर्त्तमानकाल का आशय समीपवर्त्तीकाल है। जैसे—दिन के चार प्रहर होते हैं। आप संध्यासमय प्रतिक्रमण करते हैं। उस समय सारा ही दिन भूतकाल है लेकिन दिन का चौथा प्रहर समीप का भूतकाल है अर्थात् आसन्नभूत है। इस आसन्न-भूतकाल को ही यहाँ वर्त्तमानकाल कहा है।

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उसके विषय में दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भगवान् ने कहा है कि कायोत्सर्ग से प्रायश्चित्त की विशुद्धि होती है; लेकिन जिससे पाप का छेदन हो वही प्रायश्चित्त कहलाता है और इस प्रकार प्रायश्चित्त का अर्थ विशुद्धि है। तो फिर प्रायश्चित्त की विशुद्धि कैसे की जाती है ? इसका उत्तर यह है कि यहाँ प्रायश्चित्त शब्द का प्रयोग व्रत के अतिचारों के लिए किया गया है। प्रायश्चित्त करने योग्य व्रत-सम्बन्धी अतिचारों की कायोत्सर्ग करने से विशुद्धि होती है।

दुखी माना जाता है ! यह एक प्रकार का भ्रम है। सुखी वास्तव में वही है जिसके सिर पर पाप का भार नहीं रहा, जो पाप का बोझा उतार कर हल्का बन गया है।

आत्मा में अनन्त शक्तियाँ छिपी हुई हैं। उन्हें प्रकट करने के लिए ही शास्त्रकार कायोत्सर्ग का उपदेश देते हैं। भगवान् कहते हैं—कायोत्सर्ग करने से आत्मा पाप के बोझ से मुक्त होकर सुख-लाभ करता है और प्रशस्त धर्मध्यान में लीन होकर मुक्ति के समीप पहुँचता है। काय के प्रति ममताभाव का त्याग करके कायोत्सर्ग करने वाले को किसी प्रकार का दुःख नहीं रहता। वह सुखी होता है।

हे आत्मन् ! तुझमें और परमात्मा में जो भेद है, वह कायोत्सर्ग द्वारा मिट जाता है। व्यतिरेक से इस कथन का अर्थ यह भी हो सकता है कि आत्मा और परमात्मा के बीच भेद डालने वाला यह शरीर ही है। उदाहरणार्थ—आग पर पानी रखने से पानी उबलता है और उबलने पर सन्-सन् की आवाज़ करता है। यह आवाज़ करता हुआ पानी मानो यह कह रहा है कि मुझ में आग बुझा देने की शक्ति है, लेकिन मेरे और आग के बीच में यह पात्र आ गया है। मैं इस पात्र में बन्द हूँ और इसी कारण आग मुझे उबाल रही है और मुझे उबलना पड़ रहा है। इसी प्रकार आत्मा तो सुखस्वरूप ही है, परन्तु इस शरीर के साथ बद्ध होने के कारण वह दुःख पा रहा है। कायोत्सर्ग द्वारा जब शरीर सम्बन्धी ममत्व-भाव त्याग दिया जाता है तब आत्मा में किसी प्रकार का दुःख नहीं रह पाता।

जाता है। कायोत्सर्ग करने पर भी आत्मा पाप से हल्का न हो तो समझना चाहिए कि कायोत्सर्ग में कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य रह गई है! दवा लेने पर भी बीमारी न मिटे तो यही समझा जाता है कि या तो दवा में कोई दोष है या दवा लेने वाले में कोई त्रुटि है। इसी प्रकार कायोत्सर्ग करने पर भी आत्मा पाप के भार से हल्का न हो तो समझना चाहिए कि आत्मा ने सम्यक् प्रकार से कायोत्सर्ग नहीं किया है।

कायोत्सर्ग करने से आत्मा के ऊपर लदा हुआ भार उतर जाता है और तब आत्मा को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है, जैसे बोझ उतरने पर मजदूर को आनन्द होता है। श्रीस्थानांगसूत्र के चौथे स्थानक में आत्मा के लिए चार विश्रान्तिस्थान बतलाये गये हैं। उनका सार इतना ही है कि जैसे सिर का भार उतर जाने से शान्ति मिलती है उसी प्रकार आत्मा पर लदा हुआ पाप का भार कायोत्सर्ग द्वारा उतर जाने से आत्मा को शान्ति मिलती है। इस प्रकार आत्मा स्वस्थ बनता है और सुखरूप विचरता है। इतना ही नहीं, शांत होकर आत्मा फिर प्रशस्त धर्मध्यान में तल्लीन हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि कायोत्सर्ग करने से आत्मा पाप के भार से हल्का हो जाता है। आत्मा निष्पाप होकर प्रशस्त धर्मध्यान में तल्लीन रहता है और मुक्ति उसके समीप आ जाती है। इस प्रकार निष्पाप बना हुआ आत्मा कभी दुखी नहीं होता, सदा सुखी बना रहता है। सुखी बनने का उपाय यही है कि आत्मा पर पाप का जो भार लदा हो उसे कायोत्सर्ग द्वारा उतार दिया जाय। मगर दुनिया की पद्धति निराली ही नजर आती है। लोग धन-पुत्र वगैरह में सुख समझते हैं अर्थात् जिनके ऊपर पाप का भार लदा है उन्हीं को सुखी समझा जाता है और जो लोग पाप के भार से हल्के हो गये हैं उन्हें

और इच्छा का निरोध हो जाता है। इच्छा का निरोध होने से जीव सब द्रव्यों की तृष्णा से रहित होता है और इस प्रकार शान्तचित्त हो सुखपूर्वक विचरता है।

व्याख्यान

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उसके आशय पर विचार करने से पहले इस बात का विचार कर लेना आवश्यक है कि कायोत्सर्ग कर लेने पर भी प्रत्याख्यान करने की क्या आवश्यकता है? शरीर सम्बन्धी ममत्व का त्याग करने के उद्देश्य से कायोत्सर्ग किया जाता है। अन्य जनता में मृत्यु का जो प्रबल भय फैला है, कायोत्सर्ग द्वारा उस पर विजय प्राप्त की जाती है। कायोत्सर्ग करने से मनुष्य 'जीवियासा-मरणभयविप्पमुक्क' अर्थात् जीवन की लालसा और मरण के भय से मुक्त हो जाता है। कायोत्सर्ग से अतीत काल के पापों की शुद्धि होती है और प्रत्याख्यान से भविष्य के पाप रुकते हैं। इस प्रकार कायोत्सर्ग से भूतकालीन पापों की शुद्धि होती है परन्तु भविष्य में होने वाले पापों को रोकने के लिए प्रत्याख्यान करने की आवश्यकता है। अतएव कायोत्सर्ग करने वाले को प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिए।

प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है कि मूलगुणों और उत्तरगुणों को धारण करने के लिए प्रत्याख्यान किया जाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—यह पाँच मूलगुण हैं और नवकारसी वगैरह उत्तरगुण हैं। अर्थात् साधुओं के लिए पाँच महाव्रत मूलगुण हैं और नवकारसी आदि उत्तरगुण हैं। इसी प्रकार श्रावकों के लिए पाँच अणुव्रत मूलगुण हैं और नवकारसी वगैरह

तेरहवाँ बोल

प्रत्याख्यान

कायोत्सर्ग करने से आत्मा सुखपूर्वक विचरता है और प्रत्याख्यान करने के योग्य बनता है। प्रत्याख्यान वही कर सकता है जो कायोत्सर्ग करता है। अतएव अब प्रत्याख्यान के विषय में भगवान् से प्रश्न किया जाता है:—

मूलपाठ

प्रश्न—पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयई ?

उत्तर—पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभई, पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ, इच्छानिरोहं गए णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीईभूए विहरइ ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—प्रत्याख्यान करने से (अर्थात् मूलगुण और उत्तरगुण धारण करने से) हिंसा आदि आस्रवद्वार बन्द हो जाते हैं

प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या फल मिलता है ? भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है। वास्तव में प्रत्येक कार्य का फल जानना आवश्यक है। फल देखे जाने विना किसी भी कार्य में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस कथन के अनुसार प्रत्याख्यान करने से क्या फल मिलता है, यह जानना भी आवश्यक है। प्रत्याख्यान के फल के सम्बन्ध में पूछे हुए प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फरमाया है कि प्रत्याख्यान करने से आस्रव-द्वारों का निरोध होता है।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह, यह पाँच आस्रव हैं। प्रत्याख्यान इन पाँच आस्रवो को रोकता है। जो हिंसा का त्याग करेगा वह किसी जीव को मारेगा नही और न दु:ख ही देगा। वह स्वयं कष्ट सहन कर लेगा पर दूसरों को कष्ट नहीं पहुँचाएगा। जो असत्य का त्याग करेगा वह किसी के सामने झूठ नहीं बोलेगा। चोरी का त्याग करने वाला किसी की चीज नही चुराएगा। मैथुन का अथवा परस्त्री का त्याग करने वाला इस पाप में कदापि नहीं पड़ेगा।

अभया रानी ने सुदर्शन सेठ को कितना भय और प्रलोभन दिया, फिर भी सुदर्शन ने व्यभिचार का सेवन नहीं किया। इसका कारण यही था कि सुदर्शन परस्त्री का त्यागी था। इसी प्रकार परिग्रह का परिमाण करने वाला दूसरे के द्रव्यों पर मन नहीं करेगा और धन आने पर प्रसन्नता का तथा धन जाने पर दुःख का अनुभव नहीं करेगा। परन्तु परिग्रह का सर्वथा त्यागी तो किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं रक्खेगा। इस प्रकार प्रत्याख्यान करने से इच्छा का निरोध हो जाएगा। प्रत्याख्यान का महत्व ही यह है कि प्रत्याख्यान करने वाले को अपने त्याग से बाहर की मूल्यवान् वस्तु मिलेगी तो भी वह लेने के लिए तैयार नहीं होगा और न उसे स्वीकार

उत्तरगुण हैं। स्थूल हिंसा न करना, स्थूल असत्य न बोलना, स्थूल चोरी न करना, परस्त्रीगमन न करना और परिग्रह की मर्यादा करना, यह पाँच अणुव्रत श्रावक के मूलगुण हैं और सात व्रत उत्तरगुण हैं। उत्तरगुण कहलाने वाले सात व्रत मूलगुणों के लिए बाड़ के समान है। मगर ध्यान रखना चाहिए कि बाड़ उसी खेत में लगाई जाती है, जिसमें कुछ हो। जिस खेत में कुछ भी नहीं होता, उस खेत के चारों ओर बाड़ लगाना व्यर्थ समझा जाता है। किसी श्रावक में उत्तरगुण न हो परन्तु मूलगुण हो तो उसे शास्त्र इतना अनुचित नहीं मानता, जितना अनुचित मूलगुण न होना मानता है। मूलगुणों के प्रति तनिक भी सावधानी न रखते हुए केवल उत्तरगुणों से चिपटे रहना एक प्रकार का ढोंग है। उदाहरणार्थ—कोई मनुष्य व्यवहार में हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परधन का हरण करता रहता है और धर्मस्थान में जाकर सामायिक करने का दिखावा करता है, तो उसका यह दिखावा ठीक नहीं कहा जा सकता। इतना ही नहीं, ऐसा करने वाला व्यक्ति अपने धर्म और धर्मगुरु को भी लजाता है। इससे विपरीत कोई मनुष्य सामायिक तो नहीं करता किन्तु स्थूल हिंसा भी नहीं करता—बल्कि दुखी जीवों पर अनुकम्पा करता है, सत्य बोलता है, प्रामाणिकता रखता है और इसी प्रकार अन्य मूलगुणों का पालन करता है तो वह घर में बैठा-बैठा भी साधुओं की महिमा बढ़ाता है। इस प्रकार उत्तरगुणों के लिए मूलगुणों का होना आवश्यक है और मूलगुण होने पर उत्तरगुणों को अपनाने की इच्छा स्वतः उत्पन्न होगी। जिसमें मूलगुण होंगे, वह अपने मूलगुणों को विकसित करने के लिए उत्तरगुणों को अपनाएगा ही। इस प्रकार मूलगुणों के साथ ही उत्तरगुणों की शोभा है। प्रत्याख्यान करने से मूलगुणों और उत्तरगुणों को धारण किया जा सकता है।

कहोगे कि कंगाल लोग हमारा क्या बिगाड़ सकते हैं? मगर यह समझना भूल है। यह कंगाल लोग थोड़े नहीं हैं और फिर आज तुम्हारे पास जो धन है वह इन्हीं से तुम्हारे पास आया है। अतएव तुम्हें विचारना चाहिए कि जब वस्तु भेद नहीं करती तो फिर मुझे भेद करने का क्या अधिकार है? वस्तु तो किसी प्रकार का भेद नहीं करती। जो भोजन तुम्हारी भूख शान्त कर सकता है वह क्या दूसरों की भूख नहीं मिटा सकता? इस प्रकार जब वस्तु भेद नहीं करती तो तुम क्यों भेद करते हो? प्राचीन काल में तो ऐसे-ऐसे लोग हो गये हैं, जिन्होंने स्वयं भूखे रहकर भी दूसरों को भोजन दिया! अगर तुम उन सरीखे नहीं बन सकते तो कम से कम इतना तो कर सकते हो कि तुम्हारे पास जो वस्तु अधिक हो उसे दबाकर मत बैठे रहो। तृष्णा के वश होकर दूसरो के दुःख की उपेक्षा तो मत करो! तृष्णा की पूर्त्ति न कोई कर सका है और न कभी हो ही सकेगी। अतएव इच्छा का निरोध करके तृष्णा को रोको। इस विषय में जो बात जैनशास्त्र कहता है, वही बात महाभारत में भी कही गई है। महाभारत में कहा है—

यश्च कामसुखं लोके, यश्च दिव्यं महत्सुखं।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हन्ति षोडशीं कलाम् ॥

इस श्लोक का आशय यह है कि, इस लोक में किसी को चक्रवर्ती जैसा पद भले ही प्राप्त हो जाय और देव संबंधी दिव्य सुख भी मिल जाय इन दोनों सुखों को तराजू के एक पलड़े में रख दिया जाय और दूसरे पलड़े में इच्छा निरोध का सुख रक्खा जाय, तो यह दोनों सुख इच्छानिरोध के सुख की तुलना में सोलहवीं कला भी प्राप्त नहीं कर सकते। तात्पर्य यह कि दिव्य सुख, इच्छानिरोध के सुख के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं है।

करेगा। उदाहरणार्थ—अरणक श्रावक को किसी देव ने कुंडलों की जोड़ियाँ दी थीं। वे कुंडल कितने कीमती होंगे? फिर भी उसने कुंडल अपने पास नहीं रक्खे। उसने राजाओं को भेट कर दिये। इसका कारण यही था कि कुंडल की जोड़ी उसके त्याग की मर्यादा के बाहर की वस्तु थी। उसने परिग्रह की मर्यादा कर ली थी। जो परिग्रह का परिमाण कर चुका होगा वह चिन्तामणि या कल्पवृक्ष मिलने पर भी उसे ठुकरा देगा, क्योंकि यह अमूल्य वस्तुएँ उसका त्याग भंग करने वाली हैं। इस प्रकार की अमूल्य वस्तुएँ भी स्वीकार न करना प्रत्याख्यान का ही प्रताप है।

सभी लोग अगर इच्छा का परिमाण कर ले तो संसार में किसी प्रकार की अशान्ति ही न रहे। आज संसार में जो अशान्ति फैल रही है, वह इस व्रत के अभाव के कारण ही फैल रही है। इस व्रत के पालन न करने के कारण ही बोल्शेविज्म—साम्यवाद उत्पन्न हुआ है। भारतवर्ष में भी साम्यवाद का पचार बढ़ रहा है। धनवान् लोग पूँजी दबाकर बैठ रहें और गरीब दुःख पावें, तब गरीबों को धनिकों के प्रति द्वेष उत्पन्न हो, यह स्वाभाविक है। गरीबों के हृदय में इस प्रकार की भावना उत्पन्न हो सकती है कि हम तो मुसीबतें उठा रहे हैं और यह लोग अनावश्यक धन दबाकर बैठे हैं! तुम ठाँस-ठाँस कर पेट भरो और बचे तो फैंक दो, मगर तुम्हारे सामने दूसरा मनुष्य भूखों मर रहा हो और उसकी खोजखबर तक न लो! इसी प्रकार तुम्हारे पास अनावश्यक वस्त्र ट्रंको में भरे पड़े रहे और दूसरा मनुष्य कड़कड़ाती हुई ठंड में सिकुडकर मर रहा हो फिर भी उसे कपडा न दो! तब इन दुःखी मनुष्यों में तुम्हारे प्रति द्वेष की भावना उत्पन्न हो और द्वेषभाव से प्रेरित होकर वे तुम्हारा धन लूटने के लिए तैयार हो जाएँ, यह स्वाभाविक है। कदाचित् तुम

सामान खरीदा, फिर भी अमुक चीज बाकी रह गई है, ऐसी आवश्यकता बनी ही रही। तब उस आदमी ने विचार किया जिस पलंग के पीछे इतना अधिक खर्च करना पड़ रहा है, उसको ही क्यों न निकाल दिया जाय ?

आखिरकार पलंग निकाल देने पर ही उसे संतोष हुआ। इस प्रकार एक वस्तु हुई कि उसके साथ दूसरी वस्तु की आवश्यकता खड़ी हो जाती है। ऐसा होने पर भी तृष्णा का त्याग करके सुखी बनने के बदले बहुतेरे लोग तृष्णा में ही सुख मानते हैं, किन्तु वास्तव में तृष्णा से सुख का मार्ग ही बन्द हो जाता है। कम से कम तृष्णा होने पर तो सुख मिल ही नहीं सकता। जब किसी वस्तु की इच्छा नहीं होती तब उस वस्तु में गति होती है और वह पास आती है। परन्तु जब तृष्णा उत्पन्न होती है तब वह वस्तु दूर भागती है।

कहने का आशय यह है कि सुख तृष्णा में नहीं, तृष्णा जीतने में है। हिंसा, असत्य आदि पाप भी तृष्णा से ही होते हैं। तृष्णा मिटाने से यह पाप भी रुक जाते हैं। इन पापों का रुकना ही आस्रव का निरोध है। आस्रव का निरोध करने से किस फल की प्राप्ति होती है, यह बतलाया जा चुका है। यहाँ सिर्फ इतना ही कहना है कि तृष्णा को जीतने के लिए अपनी आवश्यकताएँ कम कर डालनी चाहिए। आवश्यकताएँ जितनी कम की जाएँगी, तृष्णा भी उतनी ही कम होती जायगी। अगर तुम इतना नहीं कर सकते तो आवश्यक वस्तुओं के अतिरिक्त अनावश्यक वस्तुओं की ही तृष्णा रोको। इससे भी बहुत लाभ होगा। आवश्यक वस्तुओं की तृष्णा से जितनी हानि होती है, उससे कहीं अधिक हानि अनावश्यक वस्तुओं की तृष्णा से होती है। पहले चौदह नियम चितारने का जो उपदेश दिया जाता था उसका उद्देश्य यही था कि अनावश्यक

यद्यपि तृष्णाविजय का सुख ऐसा ही है, फिर भी संसार के लोग तृष्णा में ही सुख मानते हैं, मगर तृष्णा मे न किसी को सुख मिला है और न मिल ही सकता है। ज्ञानी जन कहते हैं कि तृष्णा से सुख कदापि नहीं मिल सकता। अतएव अगर सुखी बनना चाहते हो तो तृष्णा को जीतो।

तुम जिस वस्तु की कल्पना करते हो वह तृष्णा के लिए ही है और जिस चीज़ में सुख मानते हो, वह भी तृष्णा का पोषण करने के लिए ही है। किसी भी चीज़ में जो कोई सुख मानता है-सो वह तृष्णा ही सुख मानती है। तुम सुख नहीं मानते। उदाहरणार्थ कान में पहने हुए मोतियो को तुम न देख सकते हो और न चख या सूँघ ही सकते हो, फिर भी मोती पहन कर कान को किस कारण कष्ट देते हो। केवल तृष्णा के ही वश होकर। जिस वस्तु में कोई स्वाद नहीं आता और न जिससे भूख--प्यास ही मिटती है, उसे पहनना दुःखरूप है या सुखरूप ? तुम धन को सँभाल कर रखते हो सो किसके लिए ? इसीलिए कि मैं धन के द्वारा अमुक काम करूँगा। इसी बात को ध्यान मे रखकर श्री उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्चमिमं अकिच्चं।
तमेवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंतीति कहं पमाए ? ॥

अर्थात्—यह मेरा है और यह मेरा नहीं है, इस प्रकार की तृष्णा बनी ही रहती है। यह है और यह नहीं है, इस प्रश्न का क्या किसी भी दिन समाधान हो सकता है ? एक वस्तु हुई तो उसी के साथ दूसरी वस्तु की आवश्यकता खड़ी हो जाती है। सुना है, एक आदमी ने नीलाम में सस्ता मिलने के कारण एक पलंग खरीदा। पलंग अच्छा था। अतः उसके साथ साठ हज़ार रुपये का नया

अर्थात्—मूलगुण और उत्तरगुणरूप प्रत्याख्यान का भावपूर्वक सेवन करना चाहिए। ऐसा न हो कि हंस का भाग कौवा खा जाय! अर्थात् प्रत्याख्यान भी दूसरे प्रयोजनों से किया जाय! मोक्ष के लिए प्रत्याख्यान करना हो तो भावपूर्वक ही करना चाहिए और मोक्ष के उद्देश्य से किया जाने वाला प्रत्याख्यान ही आत्मा के लिए लाभदायक सिद्ध होता है और उसी से आस्रवों का निरोध हो सकता है। बहुतसे लोग प्रत्याख्यान करके लौकिक स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। इस प्रकार का प्रत्याख्यान मोक्ष का साधक नहीं होता। वही प्रत्याख्यान मोक्ष का साधक हो सकता है जो वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट हो और जो भावपूर्वक किया जाय। जो राग और द्वेष से अतीत हो चुके हैं वे वीतराग भगवान् जिस प्रत्याख्यान का उपदेश देते हैं, वह मोक्ष के लिए ही हो सकता है। वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट उस प्रत्याख्यान के आधार पर अनंत जीव मोक्ष प्राप्त कर चुके है, करते हैं और करेंगे तथा शाश्वत सुख प्राप्त किया है, प्राप्त करते हैं और प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार प्रत्याख्यान मोक्ष का एक अंग माना गया है और इससे स्पष्ट है कि वह आस्रवों का निरोध करने के साथ ही पूर्वकृत पापों को भी नष्ट करता है। इसके अतिरिक्त पूर्ण प्रत्याख्यान करने वाले को चारित्रशील कहा है और चारित्र का अर्थ पूर्वकृत कर्मों को नष्ट करना होता है। इस कथन से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रत्याख्यान आस्रवद्वारों का निरोध करने के साथ ही पूर्वकृत कर्मों को भी नष्ट करता है।

प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—प्रत्याख्यान से आस्रवद्वार बन्द होता है और इच्छा का निरोध होता है। इच्छा का निरोध प्रत्याख्यान

वस्तुओं की तृष्णा रोकी जाय और आवश्यकताएँ कम की जाएँ। ऐसा करने से आत्मा को अनुपम सुख प्राप्त होता है क्रमशः तृष्णा पर विजय प्राप्त की जा सकती है। अतएव अपनी आवश्यकताएँ घटाओ। ज्यों-ज्यो आवश्यकताएँ घटाओगे त्यों-त्यों तृष्णा पर विजय प्राप्त होती जाएगी और परिणामस्वरूप सुख प्राप्त कर सकोगे। इससे विपरीत आवश्यकताएँ जितनी बढ़ाओगे तृष्णा भी उतनी ही बढ़ेगी और तृष्णा बढ़ने से दुःख भी बढ़ेगा। अतएव अगर सुख प्राप्त करने की इच्छा हो तो अपनी आवश्यकताएँ कम करो और तृष्णा को जीतो। तृष्णाविजय ही सुख का एकमात्र राजमार्ग है।

प्रत्याख्यान का फल बतलाते हुए भगवान् ने कहा है कि प्रत्याख्यान से आस्रव का निरोध होता है। भगवान् के इस उत्तर से स्पष्ट विदित होता है कि भगवान् ने भी मूलगुणों पर अधिक जोर दिया है, क्योंकि मूलगुणों से ही आस्रव का निरोध होता है। हिंसा का निरोध अहिंसा से होता है और असत्य का निरोध सत्य से ही होता है। इसी प्रकार अन्य आस्रवों का निरोध भी मूलगुणों से ही होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ने मूलगुणरूप प्रत्याख्यान पर अधिक बल दिया है। भगवान् ने कहा है कि प्रत्याख्यान करने से आस्रवद्वारों का निरोध होता है और उससे जीव मुक्ति के सन्निकट पहुँचता है। भगवान् के इस कथन से यह भी स्पष्ट होजाता है कि प्रत्याख्यान आस्रवनिरोध के साथ ही पूर्व-कर्मों को भी नष्ट करता है। इस कथन के लिए प्रमाण यह है कि प्रत्याख्यान को मोक्ष का अंग माना है। इस विषय में टीकाकार कहते हैं—

पच्चक्खाणे वि णं सेविऊणं भावेण जिणवरुद्दिट्ठं।
पत्ताणंता जीवा सासयसोक्खं लहु मोक्खं ॥

कि बकरी निकालने में ऊँट घुस जाय ! अर्थात् छोटे पापों का तो प्रत्याख्यान किया जाय और उनके बदले बड़े पाप अपनाये जाएँ। अतएव प्रत्याख्यान करते समय विवेक रखना चाहिए। अविवेकपूर्वक प्रत्याख्यान करने से लाभ के बदले हानि अधिक होती है। वही प्रत्याख्यान प्रशस्त है जो इच्छा का निरोध करने के लिए किया जाता हो।

इच्छा का निरोध होने से क्या लाभ मिलता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—इच्छा का निरोध होने से जीव को किसी भी द्रव्य की तृष्णा या लालसा नहीं रहती। तृष्णा जीव के लिए वैतरणी नदी के समान दुःखदायक है; इसलिए तृष्णा को जीतो। तृष्णा को जीतने के लिए भगवान् ने मार्ग बतलाया ही है कि इच्छा का निरोध करो और इच्छा के निरोध के लिए प्रत्याख्यान करो। इच्छा का निरोध तृष्णा को जीतने का अमोघ उपाय है। आशय यह है कि प्रत्याख्यान से इच्छा-निरोध होता है, इच्छा-निरोध से तृष्णा मिट जाती है, तृष्णा मिटने से संताप का शमन हो जाता है। और सन्ताप के शमन से जीव को सुखशान्ति प्राप्त होती है। भगवान् ने जगत् के जीवों को सुख का यह मार्ग बतलाया है।

कुछ लोग पूछते हैं कि प्रत्याख्यान करने से आत्मा संताप से किस प्रकार बच सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि प्रत्याख्यान एक ऐसी दिव्य औषधि है कि उससे तत्काल आत्मा का सन्ताप शान्त हो जाता है। इसे समझने के लिए एक उदाहरण उपयोगी होगा :—

मान लीजिए, किसी मनुष्य ने परस्त्री का त्याग किया। परस्त्री का त्याग करने से वह परस्त्री सम्बन्धी सन्ताप से बचा रहेगा। इसके विरुद्ध जो परस्त्री का त्यागी नहीं है, उसे परस्त्री मिले या न

करने से होता है, अतः राग-द्वेष भी नहीं होता। प्रत्याख्यान से किस प्रकार इच्छा का निरोध होता है यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाई जाती है।

कल्पना कीजिए, किसी मनुष्य ने आम खाने का प्रत्याख्यान किया। आम खाने का त्याग करने के पश्चात् जगत् में आम है या नहीं, इस वर्ष आम की फसल कैसी आई है, आम किस भाव बिकते हैं, ऐसी बातों का वह कोई विचार तक नहीं करता। आम खाने का त्याग करने वाला आम के भाव-ताव की चिन्ता क्यों करेगा? आम के प्रति उसकी कोई रुचि या इच्छा ही नहीं होती। इस प्रकार प्रत्याख्यान करने वाले की इच्छा का निरोध हो जाता है। संसार के सारे काँटे बीने नहीं जा सकते, परन्तु पैर में मजबूत जूता पहनने वाले के लिए तो मानो जगत् में काँटे रहते ही नहीं! इसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थ नष्ट नहीं हो सकते, लेकिन प्रत्याख्यान करने वाले की इच्छा, प्रत्याख्यान की हुई वस्तु की ओर जाती ही नहीं है। इस प्रकार प्रत्याख्यान द्वारा इच्छा का निरोध होता है।

कितनेक लोगो का कहना है कि प्रत्याख्यान मे क्या रक्खा है! किन्तु प्रत्याख्यान में कुछ रक्खा है या नहीं, यह बात गाँधीजी से पूछो तो मालूम हो जायगी। गांधीजी ने प्रत्याख्यान न किया होता तो वह महात्मा बन सकते या नहीं, यह एक प्रश्न है। प्रत्याख्यान लेने के कारण ही वह बीमारी के अवसर पर भी मांस-मदिरा वगैरह के पाप से बच सके थे।

इस प्रकार प्रत्याख्यान से इच्छा का निरोध होता है। इच्छा के निरोध से आत्मा को अत्यन्त लाभ पहुँचता है। प्रत्याख्यान करने में भी विवेक की अत्यन्त आवश्यकता है। ऐसा नहीं चाहिए

चौदहवाँ बोल ।

स्तव-स्तुतिमंगल



परमात्मा की प्रार्थना हृदय का अज्ञान मिटाने के लिए ह
करनी चाहिए। यही बात शास्त्रकार भी कहते हैं। शास्त्र में भ
स्तुति-प्रार्थना करने के विषय में भगवान् से प्रश्न पूछा गया है। व
प्रश्न और उसका उत्तर इस प्रकार है :—

मूलपाठ

प्रश्न—थवथुइमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—थवथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्तबोहिलाभ
जणेइ, नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं
कप्पविमाणोववत्तियं आराहणं आराहेइ ॥१४॥

मिले, फिर भी परस्त्री विषयक सन्ताप उसके हृदय को जलाता ही रहेगा। रावण को सीता न मिली पर सन्ताप तो मिला ही! काम की दस दशाओं का जो वर्णन किया गया है उससे ज्ञात हो सकता है कि रावण को किस प्रकार का सन्ताप था! परस्त्री का त्याग न होने से परस्त्री-विषयक ऐसा सन्ताप होता है कि जिससे कुल, परिवार, राज्य, देश वगैरह मटियामेट हो जाते हैं। अगर परस्त्री का त्याग हो तो ऐसा अवसर ही क्यों आवे? इस प्रकार प्रत्याख्यान करने से इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी सन्तापों से छुटकारा मिलता है। इस सन्ताप से बचने के लिए और सुखी बनने के लिए प्रत्याख्यान करना आवश्यक है। प्रत्याख्यान न करने से किस प्रकार का कष्ट होता है और परस्त्री का प्रत्याख्यान न करने से स्थिति कैसी बेढंगी बन जाती है, इसके लिए नाथद्वारा के महंत का उदाहरण सामने ही है। प्रत्याख्यान न करने से इस लोक के व्यवहार की भी हानि होती है और परलोक की भी हानि होती है। अतएव अगर सुखी बनना है और प्रत्येक प्रकार के सन्ताप से बचना है तो प्रत्याख्यान करो। प्रत्याख्यान से आत्मा पाप से बच जायगा और सुखशान्ति का लाभ करेगा।

मग्गदयाणं, सरणदयाणं, जीवदयाणं, बोहिदयाणं, धम्मदयाणं, धम्मदेसियाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं, दीवो ताणं, सरणगईपइट्ठाणं, अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं, वियट्टछउमाणं, जिणाणं, जावयाणं, तिन्नाणं, तारयाणं, बुद्धाणं, बोहियाणं, मुत्ताणं, मोयगाणं, सव्वन्नूणं, सव्वदरिसीणं, सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाहमपुणरावित्तिसिद्धगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं जियभयाणं ॥

यह शक्रस्तव है। शक्रेन्द्र इसी स्तव द्वारा भगवान् की प्रार्थना करता है, अतः इसे शक्रस्तव या शक्रेन्द्रस्तव भी कहते हैं। आज हम लोगों में पामर दशा व्याप गई है, इसीलिए हमारे सामने उत्तम वस्तु का भी आदर नहीं होता। शक्रेन्द्र जो प्रार्थना करता था वही प्रार्थना हमें प्राप्त हुई है, अतः यह प्रार्थना बोलते समय हमें कितनी प्रसन्नता होनी चाहिए? जो शब्द इन्द्र के मुख में से निकले थे, वही शब्द मेरे मुख से निकल रहे हैं, इस विचार से प्रार्थना करते समय हमारे अन्दर कितना उत्साह और कितना आह्लाद होना चाहिए? लेकिन आज तो स्थिति ऐसी है कि मानो महाराणा प्रताप का भाला तो पड़ा है मगर उसे उठाने वाला ही कोई नहीं है! इसी प्रकार शक्रेन्द्र द्वारा की गई प्रार्थना तो है, लेकिन उसे बोलने वालों में जो उत्साह चाहिए, वह बहुत थोड़े लोगों में ही पाया जाता है!

कहा जा सकता है कि शक्रेन्द्र द्वारा किया हुआ स्तव हमें किस लिए दिया गया है? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र का कथन है कि आध्यात्मिक दृष्टि से शक्रेन्द्र की अपेक्षा भी श्रावक का पद

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! स्तव और स्तुतिमंगल से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—एक श्लोक से लेकर सात श्लोकों में परमात्मा की जो प्रार्थना की जाती है वह स्तुति कहलाती है और शक्रेन्द्रस्तव आदि स्तव कहलाते हैं। स्तव-स्तुतिरूप मंगल करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी बोध का लाभ होता है। बोध का लाभ प्राप्त होने से जीव कल्पवासी देव होता है और फिर ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आराधन-सेवन करके मोक्ष प्राप्त करता है।

व्याख्यान

स्तव-स्तुतिमंगल करने से जीव को जो लाभ होता है, उस पर विचार करने से पहले स्तव स्तुतिमंगल के अर्थ पर विचार करना उपयोगी होगा।

'थव' का अर्थ स्तव और 'थुइ' का अर्थ स्तुति है। स्तव में ऐसा नियम होता है कि स्तव अमुक प्रकार का ही होना चाहिए लेकिन स्तुति के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है। करने वाला अपनी इच्छा के अनुसार स्तुति कर सकता है। जैसे—भगवान् का स्तव करते हुए कहा गया है—

नमोत्थु णं अरिहंताणं, भगवंताणं, आइगराणं, तित्थयराणं, सयंसंबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं, पुरिसवरपुंडरीयाणं, पुरिसवरगंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगपईवाणं, लोगपज्जोयगराणं, अभयदयाणं, चक्खुदयाणं,

तुम्हारे लिए भी यही उचित है कि नाम, स्थापना और द्रव्य को छोड़कर भाव अरिहन्त का स्तव करो। भाव-अरिहन्त का स्तव करने से क्या लाभ होता है, यह भगवान् ने बतलाया ही है।

मान लीजिए, किसी मनुष्य को लाख रुपये मिले और किसी मनुष्य को बुद्धि मिली। अब इन दोनों में से कौन बड़ा कहलाएगा ? आज तो यह कहावत प्रचलित है कि बुद्धिमान् लखपति के यहाँ विद्वान् पानी भरते हैं ! अर्थात् विद्वान् भी लखपति की नौकरी करते है। किन्तु नौकरी करने के कारण विद्वानों की बुद्धि का अनादर नहीं हो सकता। अगर कोई अज्ञानी किसी वस्तु का अनादर करता है तो उससे उस वस्तु का महत्व नहीं घट जाता। अगर बन्दरो की टोली में एक आदमी एक मुट्ठी बेर और एक मुट्ठी हीरे फैंके तो बन्दर हीरे छोड़कर बेर ही लेगे। बन्दर हीरे का महत्व नहीं जानते, इस कारण हीरे नहीं लेते। मगर इसी कारण हीरा का महत्व और उसका मूल्य क्या कम हो जाता है ? इसी प्रकार जो लोग संसार की कामना में फँसे हैं, वे स्तव द्वारा भी सांसारिक कामना ही पूरी करना चाहते हैं। इसी तरह वे भावस्तव का महत्व नही जानते किन्तु इस कारण भावस्तव का महत्व कुछ कम नहीं हो जाता।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है और वह यह कि स्तव के साथ स्तुति शब्द का सम्बन्ध किस उद्देश्य से जोड़ा गया है ? जब स्तव किया जाता है तो उसके साथ स्तुति करने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सभी लोग स्तव नहीं कर सकते, मगर कल्याण सभी चाहते हैं। ज्ञानी जन यह चाहते हैं कि सभी का कल्याण हो, इसीलिए स्तुति के विषय में पूछा गया है।

ऊँचा है और शक्रेन्द्र साधु-साध्वियों को नमस्कार करता है। ऐसी स्थिति में शक्रेन्द्र का स्तव उन्हे न दिया जाय तो किसे दिया जाय? इस उत्तर के आधार पर आशंका हो सकती है कि यदि शक्रेन्द्र की अपेक्षा साधु-श्रावक का पद ऊँचा है तो फिर साधु-श्रावक का स्तवन शक्रेन्द्र को दिया जाना चाहिए था। जब शक्रेन्द्र हम से नीची श्रेणी का है तो उसके द्वारा किया हुआ स्तवन हमे किस उद्देश्य से दिया गया है? बड़ों की चीज़ छोटों को दी जाती है।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शक्रेन्द्र एक ही है और मनुष्य बहुत है। इसी कारण उसका किया हुआ स्तव हमे दिया गया है, क्योंकि उसका स्तवन व्यवस्थित है। अगर मनुष्यो का किया हुआ स्तव उसे दिया गया होता तो यह झगड़ा उत्पन्न हो जाता कि यह मेरा स्तवन है। इसी प्रकार मनुष्यो का बनाया हुआ स्तवन मनुष्यों को दिया जाता तो भी इसी प्रकार का झगडा पैदा होता। अतएव हमें शक्रेन्द्र का स्तव दिया गया है। इसके अतिरिक्त मनुष्य में इह-लोक सम्बन्धी भावना भी होती है और इस कारण मनुष्य के प्रायः प्रत्येक कार्य मे इहलौकिक भावना चिपटी रहती है। मनुष्य के बनाये स्तव मे ऐहलौकिक भावना भी आ सकती है।

शक्रस्तव में कहा गया है कि मैं अरिहंत भगवान् को नमस्कार करता हूँ। इसके पश्चात् भगवान् कैसे हैं, यह बतलाया गया है। लेकिन इस स्तव के प्रारभ पर से यह शंका हो सकती है कि जब 'अरिहन्त' पद दिया है तो फिर 'भगवन्त' कहने की क्या आव-श्यकता थी? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए श्री रायपसेणी-सूत्र की टीका में श्री मलयगिरि आचार्य ने कहा है—अरिहन्त नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन चार निक्षेपों से होते हैं। यह स्तवन भाव-अरिहन्त को ही करना है, इसी कारण अरिहन्त के साथ भगवंत विशेषण भी लगाया गया है।

उस श्रावक को चोर पर करुणा आई। वह चोर के पास जाकर उससे कहने लगा—'भाई! तुम्हारे ऊपर मुझे अत्यन्त दया है। मगर मैं तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हूँ?'

श्रावक का यह कथन सुनकर चोर प्रसन्न हुआ और मन ही मन कहने लगा—बहुतसे लोग इस रास्ते से निकले पर इस सरीखा दयालु कोई नहीं था।

ऐसे दुखी मनुष्य को देखकर तुम्हें उस पर करुणा उत्पन्न होगी या नहीं? ऐसी दुःखद अवस्था इस आत्मा ने न जाने कितनी बार भोगी होगी! इस प्रकार आज आत्मा जो करुणा दूसरे पर प्रकट कर रहा है सो न जाने कितनी बार स्वयं उस करुणा का पात्र बन चुका है। ऐसी अवस्था मे भी आज लोगों के हृदय से करुणा-भाव की कमी हो रही है। करुणा की कमी का खास कारण स्वार्थ-भावना है। स्वार्थभावना जब हृदय में घर कर बैठती है तब करुणा-मूर्त्ति माता में भी भेदभाव आ जाता है और उसमें से भी करुणा निकल जाती है। माता की भी जब ऐसी स्थिति हो सकती है तो स्वार्थभावना के कारण अगर दूसरों में भी दुखियों के प्रति करुणा न रहे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

सेठ के मीठे बोल सुनकर चोर को बड़ी प्रसन्नता हुई। सेठ ने उस चोर से कहा—'मैं तुम्हारी कुछ सेवा कर सकूँ तो कहो।' चोर बोला—'आपको और तो क्या कहूँ। हाँ, इस समय मैं बहुत प्यासा हूँ। पीने के लिए थोड़ा पानी दे दो।' सेठ ने कहा—बहुत अच्छा। मै अभी पानी लाता हूँ। राजा की ओर से मुझे जो दंड मिलना होगा सो मिलेगा; लेकिन मैं पानी लाने जाऊँ और इतने ही समय मे कदाचित् तुम्हारे प्राण-पखेरू उड़ जाएँ तो तुम्हे न जाने

स्तव तो शक्रेन्द्र द्वारा किया जाना है परन्तु स्तुति एक श्लोक से लेकर सात श्लोक तक और संस्कृत, प्राकृत बालभाषा वगैरह किसी भी भाषा में की जा सकती है। शास्त्र सभी के कल्याण के लिए है और सभी को उनकी शक्ति-अनुसार वह कल्याण का मार्ग बतलाता है। इसी हेतु से स्तव के साथ स्तुति का भी कथन किया है। अर्थात् यह कहा है कि शक्ति हो तो स्तव करो, अन्यथा स्तुति करो। जैसी शक्ति हो वही करो, लेकिन जो भी कुछ करो, भावपूर्वक ही करो। भाव से की हुई स्तुति मे या स्तव मे त्रुटि रह जाय तो भी कल्याण है। इस विषय में एक कथा प्रसिद्ध है। वह इस प्रकार है—

किसी राजा ने एक चोर को शूली की सजा दी। उसने दूसरे लोगों पर अपराध के दंड का आतक जमाने के लिए शूली चढाने की जगह नागरिक जनता को भी बुलाया और सब लोगों को आज्ञा दे दी कि कोई भी मनुष्य चोर को सहायता न दे। चोर को शूली पर चढ़ाने का हुक्म दिया गया और सब लोग अपने-अपने घर लौट गये। जिस जगह चोर को शूली दी जानी थी, उस जगह से निकलते हुए सभी लोग चोर की निन्दा करते जाते थे। एक श्रावक भी उसी जगह से निकला। चोर को देखकर उसने सोचा कि मुझे चोर की निन्दा नही करनी चाहिए किन्तु चोरी की निन्दा करनी चाहिए। चोरी करके दड भोगने वाला पुरुष तो करुणा का पात्र है।

कितने ही लोग दुखी को देखकर कहते हैं कि यह तो अपने कर्मों का फल भुगत रहा है। इस पर करुणा कैसी ? लेकिन वास्तव में करुणा का पात्र तो दुखी जीव ही है। दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानना ही करुणा है।

व्याकरण के नियमों का पालन होना अनिवार्य नहीं है और पालन न होना अनुचित नहीं है। आर्षवचन पर व्याकरण के नियमों का प्रभाव नहीं पड़ता। अलवत्ता अर्थ करते समय इस क्रम का ध्यान रखना चाहिए।

स्तव और स्तुतिमंगल करने से जीव को क्या लाभ होता है? इसके सम्बन्ध में भगवान् ने कहा है—यह भावमंगल है। इस कथन का तात्पर्य यह हुआ कि स्तव और स्तुति भावमंगल के लिए करना चाहिए। किसी भी सांसारिक कामना से किया जाने वाला स्तव या स्तुति भावमंगल नहीं है। भावमंगलरूप स्तव या स्तुति सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है।

स्तव और स्तुतिरूप भावमंगल करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस सम्बन्ध में भगवान् ने कहा है—स्तवस्तुतिरूप भावमंगल करने से जीव को ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधि का लाभ होता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र जैनधर्म का सार है। अगर आप जैनधर्म के सारभूत ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति करना चाहते हैं तो शास्त्र कहता है कि स्तव और स्तुतिरूप भावमंगल करो। शास्त्र का यह कथन दृष्टि में रखते हुए आपसे बारम्बार यह कहा जाता है कि इस कलियुग में परमात्मा की प्रार्थना का शरण लो। हालांकि मैं जो प्रार्थना बोलता हूँ वह बालभाषा में है, इसलिए उसका स्तुति में समावेश होता है और इस प्रकार की स्तुति का फल भगवान् ने ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधि प्राप्त होना बतलाया है।

सच्चे हृदय से प्रार्थना करने वाला प्रार्थी, प्रार्थ्य (जिसकी प्रार्थना की जाय) के सर्वस्व का अधिकारी बन जाता है। एकाग्रचित्त से ध्येय पर पहुँचने का ध्यान करने से ध्येय तक पहुँच सकते

क्या गति मिलेगी। इस कारण तुम मेरा उपदेश सुनकर ध्यान मे रक्खो तो तुम्हारा कल्याण होगा।

चोर ने सेठ की बात मानना स्वीकार किया। सेठ ने उसे णमोकारमन्त्र सुनाया और कहा—मैं पानी लेकर आता हूँ, तब तक इस मन्त्र का जाप करते रहना। चोर ने पहले कभी यह मन्त्र नहीं सुना था और इस समय वह घोर संकट में था। उसे णमोकार-मन्त्र याद नहीं रहा। वह उसके स्थान पर इस प्रकार कहने लगा—

आनू तानू कछू न जानूँ, सेठ वचन परसानू॥

उसने इस प्रकार णमोकारमन्त्र का जाप किया। यह स्तव नहीं तो स्तुति तो हुई! चोर मर कर न जाने किस गति मे जाता लेकिन स्तुति के प्रभाव से वह देव हुआ। यह स्तुति का ही प्रताप है।

कहने का आशय यह है कि नियमित शब्दो मे या पंक्तिबद्ध जो हो वह स्तव है, और जिसके लिए कोई नियम-विशेष नहीं है तथा जिसमें जिस किसी भी प्रकार से हृदय के भाव प्रकट किये जाएँ वह स्तुति है। अगर आप स्तव नहीं कर सकते तो स्तुति करो, मगर जो करो भावपूर्वक ही करो। भावपूर्वक की गई स्तुति भी आत्मा का कल्याण करती है।

'थवथुइमंगलं' अर्थात् स्तवस्तुतिमंगल शब्द के विषय में व्याकरण की दृष्टि से एक प्रश्न उपस्थित होता है कि थुई (स्तुति) शब्द स्त-प्रत्ययान्त होने के कारण पहले आना चाहिए और थव (स्तव) शब्द बाद में। लेकिन शास्त्र में इससे विपरीत क्रम किस उद्देश्य से रक्खा गया है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए टीकाकार का यह कथन है कि यह आर्षवचन है। आर्षवचन में

पड़ता है तो वह कल्पविमान आदि में जन्म लेकर ही विश्राम करता है और फिर मोक्ष जाता है। अन्तक्रिया करने वाला प्रथम तो उसी भव में मोक्ष जाता है, अगर उसी भव में मोक्ष न गया तो भी वह अच्छी ही स्थिति प्राप्त करता है—अर्थात् कल्पविमान, ग्रैवेयक या अनुत्तरविमान में ही विश्रान्ति के लिए रुकता है। वहाँ से च्युत होकर वह मनुष्य ही होता है और ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की श्रेष्ठ आराधना करके मोक्ष जाता है।

स्तव-स्तुति रूप-भावमंगल करने का ऐसा श्रेष्ठ फल मिलता है। अतएव प्रत्येक समय परमात्मा की प्रार्थना करते रहना चाहिए। भले ही मुख से परमात्मा का नाम लिया जाय या न लिया जाय, लेकिन हृदय मे तो ध्यान बना ही रहना चाहिए। कितनेक लोग 'मुख में राम बगल में छुरी' की कहावत चरितार्थ करते हैं और फिर कहते हैं कि हमें राम का नाम लेने का या प्रार्थना करने का कोई फल ही नहीं मिला! लेकिन इस प्रकार खोटी प्रार्थना करने वालों को समझना चाहिए कि तुच्छ भावना के साथ की हुई प्रार्थना या स्तुति से इष्टसिद्धि नहीं हो सकती। सच्चे अन्तःकरण से की गई प्रार्थना या स्तुति ही फलदायिनी सिद्ध होती है। अतएव सच्चे हृदय से, निष्कपटभाव से प्रार्थना या स्तुति करनी चाहिए। परमात्मा की प्रार्थना किस प्रकार करना चाहिए? इसके लिए कहा गया है:—

धर्मजिनेश्वर मुझ हिवड़े वसो, प्यारा प्राण समान,
कवहूं न विसरूं चितारूं नहीं, सदा अखंडित ध्यान,
ज्यों पनिहारी कुँभ न वीसरे, नटवो वृत्तनिदान,
पलक न वीसरे पद्मणी पियु भणी, चकवी न वीसरे भान।

हैं; इसी प्रकार सच्चे हृदय से प्रार्थना करने पर परमात्ममय बना जा सकता है।

भगवान् कहते हैं कि स्तव-स्तुतिरूप भावमंगल करने से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी बोधि प्राप्त कर सकता है। रत्न-त्रयरूप बोधि प्राप्त करने से जीव अन्तक्रिया कर सकता है। अन्त-क्रिया का सामान्य अर्थ है—अन्तिम क्रिया। अन्तिमक्रिया अर्थात् वह क्रिया जिसके बाद फिर कोई भी क्रिया न करनी पड़े। अथवा जिस क्रिया से भव का अन्त हो जाय और फिर कभी भव न धारण करना पड़े उसे अन्तक्रिया कहते हैं।

संसार में पुनः-पुनः जनमना और मरना भव कहलाता है। इस प्रकार के भव का अन्त हो जाना अन्तक्रिया है। अतएव स्तव-स्तुतिरूप भावमंगल का फल उसी भव में मोक्ष जाना है। कदाचित् उसी भव में मोक्ष प्राप्त न हो तो जीव कल्पविमान में, अनुत्तरविमान में या नवग्रैवेयक वगैरह में जाता है। स्तव और स्तुतिमंगल करने से ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप बोधि का लाभ प्राप्त होने पर भी कभी-कभी हृदय के भाव ठीक नहीं रहते, इस कारण उसी भव में मोक्ष नहीं मिलता। फिर भी ऐसा जीव विश्रान्ति लेकर मोक्ष जाता है और विश्रान्ति लेने के लिए वह श्रेष्ठ विमान में ही जन्म लेता है।

उदाहरणार्थ—रेलवे के प्रथमश्रेणी के यात्री को कहीं विश्राम लेना हो तो उसे धर्मशाला या साधारण मुसाफिरखाने में विश्राम लेने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसे प्रथम श्रेणी (First Class) का विश्रान्तिगृह (Waiting Room) मिलता है। इस व्यावहारिक उदाहरण के अनुसार ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप बोधि प्राप्त करने वाले मोक्ष के मुसाफिर को अगर विश्राम लेः

आजकल लोग अपनी सन्तान मे जान-बूझकर कायरता भरते हैं। बालकों को बचपन में ही इस प्रकार दबाया जाता है कि वे दबते ही रहें। मगर लोग यह नहीं देखते कि उनकी इस करतूत के कारण बालक कितने कायर बन रहे हैं! इसी प्रकार पुरुष, स्त्रियों को दबाते हैं और कायर बनाते हैं। माताओं में कायरता होगी तो बालकों में कायरता आना स्वाभाविक है। जिस माता-पिता में वीरता होती है, उन्हीं की सन्तान वीर बनती है। सिंहनी ही सिंह को जन्म देती है। इसी प्रकार वीर माता वीर पुत्र को जन्म देती है और कायर माता कायर सन्तान उत्पन्न करती है।

कायरता के साथ ही साथ नागरिक जनों मे ऐसे कुसंस्कार घर कर बैठे हैं कि उनकी बात न पूछिए! जैसे कुसंस्कार नगरों में नज़र आते हैं वैसे ग्रामों में कचित् ही दृष्टिगोचर हो सकते हैं। ग्रामो में जैसी पवित्रता दिखाई देती है वैसी पवित्रता शहरों मे शायद ही कहीं दीख पड़े!

पतिव्रता केवल अपने एक पति का ही चित्त प्रसन्न रखना चाहती है और वेश्या अनेक पुरुषों का चित्त प्रसन्न रखने की कोशिश करती है। इन दोनों में से आपकी दृष्टि में कौन बड़ा है? कहने को तो तुम पतिव्रता को ही बड़ी कहोगे मगर अपने कथन के अनुसार आचरण भी करते हो या नहीं? तुम पतिव्रता को इसलिए बड़ी मानते हो कि वह पतिव्रत का भलीभाँति पालन करती है, लेकिन यही बात तुम अपने लिए क्यो नहीं अपनाते? पतिव्रता स्त्री में सिनेमा की नटी के समान नाज नखरे नजर नहीं आते लेकिन संसार को टिकाये रखने की और गार्हस्थजीवन को सुखी बनाने की जो शक्ति पतिव्रता में है, वह वेश्या या सिनेमा की नटी में नहीं है।

पनिहारिनें मस्तक पर खेप रखकर बातें करती चली जाती हैं। पर क्या वे बातें करते समय खेप को भूल जाती हैं? नट वांस पर खेल करता है परन्तु क्या वह अपने शरीर का समतुलन भूल जाता है? पतिव्रता स्त्री अन्यान्य कार्यों मे प्रवृत्त होने पर भी अथवा संकट में पड़ने पर भी क्या अपने पति को भूल जाती है? सीता, द्रौपदी दमयन्ती आदि सतियाँ घोर कष्टों में पड़कर भी अपने पति को विसरी नहीं थीं। सच्ची स्त्री अपने पति को कदापि नहीं भूल सकती और न अन्य पुरुष को अपने हृदय में स्थान दे सकती है। इसी प्रकार सच्चा पति भी परस्त्री को अपने हृदय में स्थान नहीं दे सकता।

सुना है कि गांधीजी ने अपनी पत्नी कस्तूरबा को उनकी बीमारी के समय एक पत्र लिखा था कि—'मैं कार्य में अत्यन्त व्यस्त होने के कारण, बीमारी के समय भी तुम्हारे पास उपस्थित नहीं हो सकता। लेकिन मैं तुम्हे विश्वास दिलाता हूँ कि कदाचित् तुम्हारी मृत्यु हो जायगी तो मैं कदापि दूसरी पत्नी नहीं करूँगा। इस प्रकार मैं तुम्हारी मृत्यु का स्वागत करूँगा और अपने मे किसी प्रकार की उदासीनता नहीं आने दूंगा।'

आज तुम्हारे समक्ष ऐसा उच्च आदर्श उपस्थित है फिर भी तुम्हारे हृदय में कैसी कायरता आ गई है! जिसमें कायरता होती है वह न तो किसी भी नियम का पालन कर सकता है और न किसी निश्चय पर दृढ़ ही रह सकता है। कायरो के हाथ में न कुछ रहता है और न रह ही सकता है। कायरों के हाथ में व्यावहारिक सत्ता भी तो नहीं रह सकती! आज स्वराज्य की मांग की जाती है पर कायरों के हाथ में कौन स्वराज्य देगा और कौन रहने देगा? इसी प्रकार भगवान् की भक्ति भी कायरों में और गुलामों में किस प्रकार टिक सकती है?

भत्तिए जिणवराणं परमाए खीणदोसाणं ।
आरुग्गबोहिलाभं, समाहिमरणं च पावेंति ॥

अर्थात् जिनके राग और द्वेष क्षीण हो गये हैं, उन जिनवरों की परमभक्ति करने से जीव संशय आदि दोषों से रहित सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का लाभ करता है और अन्त में समाधिमरण पाता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधि से संपन्न जीव अन्तक्रिया का फल प्राप्त करता है।

अन्तक्रिया का अर्थ बतलाते हुए कहा जा चुका है कि जिस क्रिया द्वारा भव या कर्म नष्ट होते हैं वह क्रिया अन्तक्रिया कहलाती है। 'इस प्रकार अन्तक्रिया करता है, यह कहने का अर्थ यह हुआ कि स्तव और स्तुति रूप भावमंगल करने वाला जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधि का लाभ करके मुक्ति प्राप्त करता है। मुक्ति का कारण अन्तक्रिया ही है, इसलिए वह अन्तक्रिया भी कहलाती है।

शास्त्रकारों ने सामग्री के भेद से चार प्रकार की अन्तक्रिया बतलाई है। जैसा कि श्री स्थानांगसूत्र में कहा है :—

चत्तारि अंतकिरियाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—तं खलु इमा पढमा अंतकिरिया अप्पकम्मपच्चाएया वि भवई, से णं मुंडेभवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले, लूहे, तीरट्ठी, उवहाणवं, दुक्खक्खवे, तवस्सी, तस्स णं णो तहप्पगारे तवे भवई, णो तहप्पगारा वेयणा भवई, तहप्पगारे पुरिसजाए दीहेणं परियावेणं सिज्झई,

कहने का आशय यह है कि जैसे पतिव्रता के हृदय में प्रत्येक समय पति का ही ध्यान बना रहता है, उसी प्रकार तुम्हारे हृदय में प्रतिक्षण परमात्मा का ही ध्यान होना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि अमुक इस प्रकार नहीं करता तो मैं ही ऐसा क्यों करूँ? तुम्हारे कान में कीमती मोती है और दूसरे के कान में नहीं है, इसी कारण तुम मोती फेंक नहीं देते वरन् उस मोती को पहन कर अपने को भाग्यशाली समझते हो। व्यवहार में जब ऐसा विचार नहीं रखते हो तो फिर धर्म के कार्य में यही विचार क्यों नहीं रखते कि दूसरा कोई धर्म करे या न करे. मैं तो धर्म करूँगा ही। जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा धर्म करने में स्वतन्त्र है। अतएव कोई दूसरा धर्मकार्य करे या न करे तो भी अपने को तो धर्मकार्य करना ही चाहिए। जैसे दूसरों के पास मोती न होने पर भी लोग मोती पहनते हैं और अपने को भाग्यशाली मानते हैं, उसी प्रकार सद्गुणो के लिए भी यही विचार करना चाहिए कि दूसरा कोई सद्गुणो को अपनावे या न अपनावे, मैं तो अपनाऊँगा ही! सद्गुणों को अपनाने से अवश्य लाभ होता है। सद्गुणों का लाभ हुए बिना रह ही नहीं सकता। अतएव सद्गुण धारण करके परमात्मा की प्रार्थना करो तो तुम्हारा कल्याण ही होगा। धर्म समाजगत ही नहीं, व्यक्तिगत भी है। अतएव जो धर्म का पालन करेगा उसी को लाभ होगा। धर्म सदैव कल्याणकारी है। धर्म को जीवन में स्थान देने से कल्याण अवश्य होगा।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी बोधि की प्राप्ति स्तव-स्तुति-रूप मंगल से होती है, यह बात पहले कही जा चुकी है। बोधि की प्राप्ति होना संपूर्ण जैन-धर्म की प्राप्ति होने के बराबर है। इस प्रकार स्तव और स्तुति रूप मंगल से संपूर्ण जैनधर्म की प्राप्ति होती है। कहा भी है—

है, बुज्झई अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त करके तत्त्वबोध पाता है, मुच्चई अर्थात् भवभ्रमण कराने वाले कर्मों को नष्ट कर मुक्त होता है और परिनिव्वाई अर्थात् समस्त उपाधियों से छुटकारा पाकर शान्त हो जाता है। ऐसा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त पुरुष समस्त दुःखों का अन्त कर डालता है अर्थात् सब दुःखों से रहित हो जाता है।

प्रथम अन्तक्रिया के लिए शास्त्रकारों ने भरत चक्रवर्त्ती का उदाहरण दिया है। उनका कथन है कि प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव के सबसे ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्त्ती पूर्वभव में लघुकर्मी होकर सर्वार्थसिद्धविमान में गये थे और फिर वहाँ से च्युत होकर मनुष्यलोक में भरत चक्रवर्त्ती हुए तथा केवलज्ञान प्राप्त करके, एक लाख पूर्व तक संयम पालकर सिद्धिगति को प्राप्त हुए थे। यह पहली अन्तक्रिया का स्वरूप हुआ।

पहली और दूसरी अन्तक्रिया में यह अन्तर है कि दूसरी अन्तक्रिया में तप और वेदना प्रबल होती है किन्तु दीक्षा कम होती है अर्थात् अल्प प्रव्रज्या से ही मोक्ष हो जाता है। गजसुकुमार मुनि ने यह अन्तक्रिया की थी।

तीसरी अन्तक्रिया में दीक्षा भी लम्बे समय तक पाली जाती है और कष्ट भी बहुत सहन करना पड़ता है, तब मोक्ष प्राप्त होता है। जैसे सनत्कुमार चक्रवर्त्ती को दीर्घकाल तक संयम का पालन करने के बाद मोक्ष मिला था। सनत्कुमार चक्रवर्त्ती की मोक्षप्राप्ति के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। किसी आचार्य के मत से वह मोक्ष गये हैं और किसी के मत से देवगति में गये हैं।

चौथी अन्तक्रिया पहली के ही समान है। उसमें केवल यही अन्तर है कि चौथी अन्तक्रिया में अल्पकाल की और अल्प

बुज्झई, मुच्चई, परिणिव्वाई, सव्वदुक्खाणमंतं करेई, जहा से भरहे राया चाउरंतं चक्कवट्टी, पढमा अंतकिरिया।

अर्थात्—एक होने पर भी सामग्री के भेद से अन्तक्रिया के चार भेद किये गये हैं। इस चार प्रकार की अन्तक्रिया में से पहली अन्तक्रिया का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि इस संसार में कोई-कोई पुरुष ऐसा होता है कि जो सम्भवतः देवलोक आदि में गमन करके, अल्पकर्मी होकर अर्थात् अनेक कर्मों का उच्छेद करने के पश्चात् मनुष्यलोक में आता है। वह मनुष्यलोक मे मुंडित होता है अर्थात् द्रव्य से घर-द्वार छोड़कर, केशलोंच करके और भाव से अविवेकरूप राग-द्वेष से बाहर निकलकर अनगार-प्रव्रजित होता है। इस प्रकार प्रव्रज्या लेकर वह पृथ्वीकाय आदि की रक्षा करता हुआ सुसंयमवान् बनता है और परिपूर्ण संयमी होकर आस्रव रोकने के लिए अथवा इन्द्रियों और कषायों का दमन करने के लिए अनेक प्रकार से संवर धारण करता है। तथा समभाव और ज्ञानादि उत्पन्न करने वाली समाधि को धारण करके वह शान्तिरूप और ज्ञानादिरूप समाधि से समाधिवान् बनता है और वह शरीर एव मन से रूक्षवृत्ति वाला बनता है अर्थात् किसी भी वस्तु के प्रति आसक्ति नहीं रखता। वह कर्मों को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील तथा सतत जागृत रहता है। इस प्रकार संसार-समुद्र को पार करता हुआ वह किनारे पहुँचता है और तप में उद्यत होकर दुःख का नाश करता है। वह शुभध्यानरूप तप का तपस्वो होने के कारण तपस्वी कहलाता है। ऐसे तपस्वी पुरुष का तप संतापजनक घोर नहीं होता। उसे देवादि का भी उपसर्ग नहीं होता। लघुकर्मी होने के कारण वह पुरुष दीर्घकाल तक दीक्षा का सम्यक् प्रकार से पालन करके सिज्झइ अर्थात् मोहकर्म नष्ट करके सिद्धगति के योग्य बनता

पुरुषों के प्रति अपने भाव समर्पित कर देने चाहिए। जैसे चन्दन-बाला ने भगवान् महावीर को उडद के छिलके दान दिये थे। यहाँ विचारणीय यह है कि कीमत उड़द के छिलकों की थी या भावों की? वास्तव में कीमत उड़द के छिलकों की नहीं, हृदय के भावो की थी। अतएव तुम भी भगवान् को अपने भाव समर्पित कर दो। तुम्हे सब प्रकार की सामग्री प्राप्त हुई है, फिर अपने भाव भगवान् के प्रति क्यों अर्पित नहीं करते?

बहुत से लोग कहा करते हैं—अभी धर्मकरणी करके क्या करें? आजकल मोक्ष तो मिलता है नहीं, मिलता है सिर्फ स्वर्ग, सो वह बहुत धर्मक्रिया से भी मिल सकता है और थोड़ी धर्मक्रिया से भी मिल सकता है। ऐसा कहने वालों से ज्ञानी जनों का कथन है कि ऐसा समझकर धर्मक्रिया करने से आलस्य करना भूल है। धर्मक्रिया करते समय इसी भव में मोक्ष मिलेगा, ऐसा मानना ही हित-कर है। इसी भव में मोक्ष न मिला तो न सही, धर्मक्रिया करने से तुम मोक्ष के पथिक तो बनोगे ही। अतएव धर्मक्रिया करने में प्रमाद मत करो। शास्त्र का कथन है कि जीव अगर आराधक हो फिर भी इसी भव में मोक्ष न जाय तो पन्द्रहवे भव में तो अवश्य ही मोक्ष जायगा। अतएव आराधक बनने में प्रमाद करना योग्य नहीं है। तुम्हे जो सामग्री मिली है, उसका उपयोग धर्मक्रिया में करना ही आराधक होने का मार्ग है। परमात्मा की भक्ति करना, स्तुति करना सरल से सरल काम है। अगर इतना सरल काम भी तुम न कर सके तो दूसरे काम कैसे कर सकोगे?

इस ससार में एक तो शुद्धता है और दूसरी अशुद्धता है। अशुद्धता से निकल कर शुद्धता में प्रवेश करना ही हमारा कर्त्तव्य है। मान लीजिए, आपके गाँव में दो तालाब हैं। एक तालाब का

कष्ट की दीक्षा से ही सिद्धि प्राप्त होती है। जैसे मरुदेवी माता को हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे मोक्ष मिल गया था।

माता मरुदेवी का जो उदाहरण दिया गया है, उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पहले मुंडित होना आदि जो गुण बतलाये गये हैं, वे मरुदेवी में कहाँ थे? इस प्रश्न का उत्तर टीकाकार ने यह दिया है कि यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में पूर्ण समानता नहीं खोजनी चाहिए।

भगवान् ने उत्तराध्ययनसूत्र मे जो उत्तर दिया है, उसमें ऐसा पाठ आया है—

अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहणं आराहेइ।

कतिपय आचार्य इस पाठ का अर्थ यह करते हैं कि 'अंत किरिया' शब्द में का 'अ' अक्षर प्रश्लेष होकर 'अ अन्तकिरिया' शब्द बन जाता है, जिसका अर्थ यह है कि जीव उसी भव में मोक्ष नहीं जाता किन्तु परम्परा से मोक्ष प्राप्त करता है। इस कथन का अर्थ यह हुआ कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र की जिस आराधना से देवलोक या विमान में उत्पत्ति होती है उस आराधना से कल्प या अनुत्तर विमान में उत्पत्ति होती है और फिर परम्परा से जीव मोक्ष पाता है।

कहने का आशय यह है कि स्तव और स्तुति रूप मंगल से संपूर्ण जैनधर्म की प्राप्ति होती है, फिर भले ही मोक्ष उसी भव में मिले या परम्परा से, किन्तु जिस धर्म से मुक्ति प्राप्त होती है उस संपूर्ण जैन धर्म की प्राप्ति तो स्तव और स्तुति मंगल से ही होती है। अतएव एकान्त भाव से स्तुति और स्तव रूप मंगल करते रहना चाहिए। अगर बड़ी स्तुति या स्तव हो सके तो ठीक ही है, अन्यथा परमात्मा की स्तुति में कहे दो शब्द भी पर्याप्त है। वास्तव में महा-

इस प्रकार बालकों पर भी परमात्मा के नाम का प्रभाव पड़ता है और वे भी परमात्मा के नाम पर विश्वास करते हैं। हाँ, उन्हे विश्वास कराने की आवश्यकता रहती है। क्या आप अपने बालकों के लिए ऐसा प्रयत्न करते हैं कि वे परमात्मा के नाम पर विश्वास रक्खें? तुम बालकों को फैंसी कपड़े तो पहनाते हो मगर उनसे बालकों की आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। आत्म-कल्याण तो धर्म पर श्रद्धा रखने से ही होता है। तुम अपने बालकों को धन-दौलत आदि की विरासत तो सौंपते हो मगर साथ ही साथ अपने धर्म की विरासत भी सौंपो। ऐसा करने से उनका भी कल्याण होगा और तुम्हारा भी कल्याण होगा।

पानी मलीन और दूसरे का निर्मल है। ऐसी स्थिति में आप किस तालाब में स्नान करना चाहेंगे ? आप यही कहेंगे कि निर्मल तालाब में ही स्नान करना उचित है। इस विषय में आप भूल नहीं करते। मगर यही बात अपने हृदय और आत्मा के विषय में सोचो। आप अपने हृदय में शुद्ध विचार लाकर भी उसमें आत्मा को स्नान करा सकते हैं और अशुद्ध विचार लाकर भी आत्मा को उसमें नहला सकते हैं। तो फिर अगर आप शुद्ध विचार लाकर उसमें आत्मा को स्नान कराएँ तो आपकी क्या हानि है ? क्या ऐसा करने के लिए कोई धर्मशास्त्र निषेध करता है ? चित्तशुद्धि के लिए सभी कहते हैं, फिर चित्त को शुद्ध करके उसमे आत्मा को क्यो स्नान नहीं कराते ? भगवान् ने कहा है—स्तव और स्तुतिरूप भावमंगल करने से जीव आराधक होता है और मोक्ष प्राप्त करता है। भगवान् के इस कथन पर विश्वास रखकर स्तव और स्तुतिरूप मंगल का अभ्यास कर देखो तो पता चलेगा कि स्तव-स्तुतिमंगल से कितना अधिक लाभ होता है !

मुझे बचपन से ही णमोकार मन्त्र पर विश्वास था। जब मैं समझता कि मुझ पर किसी प्रकार का संकट आ पड़ा है, तब मैं इस महामन्त्र का स्मरण करके शरण लेता था। णमोकार मन्त्र का शरण लेने से मेरा संकट मिट भी जाता था। लोग कहते हैं—बालक णमोकारमन्त्र में क्या समझें ! मगर शास्त्र का कथन है कि गर्भ का बालक भी श्रद्धावान् होता है। जब गर्भस्थ बालक भी श्रद्धावान् होता है तो चलता-फिरता बालक श्रद्धावान् क्यों नही हो सकता ? गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि मेरी रम्भा धाय ने परमात्मा के नाम के विश्वास का जैसा प्रभाव मेरे ऊपर बचपन में डाला था, वैसा प्रभाव अनेक ग्रन्थ पढने पर भी नही पड सकता।

व्याख्यान

भगवान् के इस उत्तर पर विचार करने से पहले यह देख लेना चाहिए कि काल का अर्थ क्या है ?

काल एक जगत्प्रसिद्ध वस्तु है किन्तु उसे समझने वाले और उसका महत्व समझ कर उससे लाभ उठाने वाले लोग बहुत कम हैं। काल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए और काल से लाभ उठाने के लिए ही व्यवहार में ज्योतिष शास्त्र बना है। काल को समझने के लिए ही घड़ी तथा इसी प्रकार के अन्य साधन निकले हैं। शास्त्र में कहा है कि काल भी छह द्रव्यों में से एक द्रव्य है। किन्तु काल स्वतन्त्र द्रव्य नहीं वरन् औपचारिक द्रव्य है। पंचास्तिकाय की षड्गुणहानि वृद्धि का माप काल कहलाता है, अतएव काल स्वतन्त्र द्रव्य न होकर औपचारिक द्रव्य है।

काल शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से होती है—भावसाधन घञन्त से, कर्मसाधन घञन्त से और कारणसाधन घञन्त से। भावसाधन घञन्त से काल की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है—'कलनं कालः' अर्थात् गणना को काल कहते हैं। 'कल्यते यः सः कालः' अर्थात् जिसकी गणना की जाय वह काल है, यह काल शब्द की कर्मसाधन घञन्त व्युत्पत्ति है। करणसाधन घञन्त की दृष्टि से काल शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—'कल्यतेऽनेन इति कालः' अर्थात् जिसके द्वारा गणना की जाय वह काल है। इस प्रकार काल की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से की जाती है। इन सब व्युत्पत्तियों का संग्रह करते हुए एक गाथा में कहा गया है—

> कलणं पज्जायाणं कलिज्जए तेण वा जओ वत्थु।
> कलयंति तयं तम्मि व समयाइ कलासमूहो वा ॥

१६

पन्द्रहवाँ बोल।

कालप्रतिलेखन

स्तव-स्तुतिमंगल करने के बाद स्वाध्याय किया जाता है, मगर स्वाध्याय यथासमय होना चाहिए। अकाल मे स्वाध्याय करने का निपेध है। इस कारण अब काल प्रतिलेखन के विषय में प्रश्न किया जाता है।

मूलपाठ

प्रश्न–कालपडिलेहणयाए णं भंते ! जीवे कि जणयई ?

उत्तर–कालपडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेई।

शब्दार्थ

प्र०—हे भगवन् ! स्वाध्याय आदि कालप्रतिलेखन से जीव को क्या लाभ है ?

उ०—काल में स्वाध्याय आदि करने से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षय करके जीव मोक्ष प्राप्त करता है।

काल तो प्रवर्त्त ही रहा है परन्तु भगवान् से जो प्रश्न पूछा गया है, वह यह है कि काल का प्रतिलेखन करने से अर्थात् विचार करने से क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न से यह स्पष्ट हो जाता है कि काल का विचार करना आवश्यक है। काल का प्रतिलेखन न करने से बहुत अनर्थ होते हैं। काल कैसा है और कैसा व्यवहार करना चाहिए, इस बात का विचार न करने से अत्यन्त हानि होती है। काल के विरुद्ध व्यवहार करने के कारण हानि होना स्वाभाविक है।

कितने ही लोग ऐसे हैं जो किसी काम के बिगड़ जाने पर सारा दोष काल के मत्थे मढ़ देते हैं। मगर यह उनकी भूल है। उसमें काल के विरुद्ध कार्य करने वाले का दोष है, काल का नहीं। काल खराब हो तो उसका सुधार भी किया जा सकता है। काल का सुधार अगर संभव न होता तो शास्त्र में उसका उपक्रम और उसके द्रव्य, क्षेत्र काल, और भाव, यह चार भेद न बतलाये गये होते। काल का भी उपक्रम होता है, फिर भले ही वह परिकर्म अर्थात् सुधार के रूप में हो या वस्तुविनाश के रूप में हो। यद्यपि काल का प्रभाव अवश्य पड़ता है किन्तु उद्योग करने से काल में सुधार किया जा सकता है।

इस काल में कौन-सा कार्य करना चाहिए और कौन सा कार्य नहीं करना चाहिए, यह विचार करना आवश्यक है। काल को दृष्टि में रखकर रहन-सहन और खानपान में भी परिवर्त्तन करना आवश्यक हो जाता है। काल को दृष्टि के सन्मुख रखकर उचित परिवर्त्तन न करने से अनेक प्रकार की हानियाँ होती हैं। काल तो अपनी प्रकृति के अनुसार काम करता ही जाता है, मगर काल का विचार न रखने वाला और अकाल कार्य करने वाला अवश्य दुखी

इस गाथा का भाव यह है कि यह नया है, यह पुराना है, इत्यादि व्यवहार को भी काल ही कहते हैं। समय, घड़ी, दिन, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर आदि के व्यवहार का कारण भी काल ही है। यह एक मास का है, यह दो महीने का है, यह शरदऋतु का है, इत्यादि व्यवहार जिसके द्वारा किया जाता है, वह काल है। ज्ञानीजन जिसे समय कहते हैं वह भी काल ही है। समय, कला आदि जिसका काल से विभाग नहीं हो सकता–का समूह भी काल ही कहलाता है।

अन्य दर्शनकारों ने काल को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। यहाँ तक कि कोई-कोई दर्शनकार तो उसे ईश्वर के समान मानते हैं। उनका कथन है कि यह सारा संसार काल के गाल में समाया हुआ है। काल ही विश्व की सृष्टि करता है। किन्तु जैनदर्शन अनेकान्त–वाद का समर्थक है। वह किसी अपेक्षा से ऐसा मानता है और दूसरी अपेक्षा से इस कथन का निषेध भी करता है। इस दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार गणना को या जिसके द्वारा गणना की जाय उसे अथवा जिसकी गणना की जाय उसे काल कहते हैं। काल द्रव्य रूप भी है और पर्याय रूप भी है। काल का पर्याय–समय आदि, जिनका दूसरा भाग नहीं हो सकता, वह भी काल ही कहलाता है। अथवा जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान हो वह भी काल है।

काल की सहायता के विना वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तु को ग्रहण करने में काल का विचार करना ही पड़ता है। इसी प्रकार विवाह संबंध आदि में भी काल की सहायता ली जाती है। तात्पर्य यह है कि समस्त वस्तुओं का माप काल द्वारा ही किया जाता है।

कहता है कि हम पक्खी-संवत्सरी की आराधना सूत्रोक्त तिथि आदि के आधार पर करते हैं तो उनका यह कथन मिथ्या है, क्योंकि वर्त्तमान में सूत्रो द्वारा यह निर्णय नहीं हो सकता कि किस प्रकार या किस रीति से ज्योतिष संबंधी गणना करनी चाहिए या तिथि माननी चाहिए। आज कल लौकिक और जित व्यवहार के आधार पर पक्खी-संवत्सरी आदि की आराधना की जाती है, वह ठीक है और एक प्रकार से सूत्रसम्मत है। पक्खी-संवत्सरी आदि का आराधन इसी प्रकार करना उचित है।

शास्त्र में पाँच प्रकार के व्यवहार कहे गये हैं—(१) आगम व्यवहार (२) सूत्र व्यवहार (३) आणा व्यवहार (४) धारणा व्यवहार और जित व्यवहार। जब आगम व्यवहार वगैरह कम होते जाते हैं या हो जाते हैं तब पाँच आचार्य मिलकर जो नियम बनाते हैं, उसे जितव्यवहार कहते हैं। पक्खी-संवत्सरी आदि जितव्यवहार के अनुसार ही करनी चाहिए किन्तु आगम के नाम पर इस बात को घोटकर चिकना करना उचित नहीं है। पक्खी या संवत्सरी के दिन तो अपने पापो की ही आलोचना करनी होती है तो फिर इस बात को लेकर निकम्में झगड़े खड़े करना कैसे उचित कहा जा सकता है?

टीकाकार का कथन है कि काल के अनुसार ही वस्तु का ग्रहण हो सकता है और काल के अनुसार ही करना चाहिए। उदाहरणार्थ—साधु दिन रहते ही भोजन कर सकते हैं, रात्रि के समय नहीं; परन्तु दिन कितना बड़ा होता है और कब से कब तक दिन समझना चाहिए, इसका कोई एकान्त निश्चय नहीं हो सकता। अतएव यही कहा जाता है कि कालानुसार जितने मुहूर्त्त का दिन हो तदनुसार दिवस की मर्यादा में ही साधु भोजन कर सकते हैं, क्योंकि

होता है। यह बात ध्यान में रखते हुए भगवान् से यह प्रश्न किया गया है कि—भगवन् ! काल का प्रतिलेखन करने से जीव को क्या लाभ होता है ? शास्त्रकार कहते हैं—

काले कालं समायरे।

अर्थात्—जिस काल में जो कार्य करना योग्य है, उस काल में वही कार्य करना चाहिए। स्वाध्याय करते समय संध्या आदि का ध्यान रखना चाहिए और देखना चाहिए कि यह काल स्वाध्याय करने का है या प्रतिक्रमण करने का ? इस प्रकार विचार कर जो काल, जिस कार्य के लिए नियत हो, उस काल में वही कार्य करना चाहिए। ऐसा न हो कि स्वाध्याय के समय प्रतिक्रमण किया जाय और प्रतिक्रमण के समय स्वाध्याय किया जाय। प्रत्येक कार्य नियत समय पर ही करना उचित है, अकाल में नहीं। अकाल मे कार्य करन का निषेध किया है।

शास्त्र में इस बात पर विचार किया गया है कि किस दिन संवत्सरी और पक्खी वगैरह मानना चाहिए। इस पर कोई प्रश्न कर सकता है कि संवत्सरी या पक्खी किस प्रमाण के अनुसार मानना चाहिए? इस प्रश्न का सामान्य समाधान यह है कि संवत्सरी आदि आगमानुसार माननी चाहिए। लेकिन मेरी मान्यता के अनुसार शास्त्र में ज्योतिष संबंधी जो बातें आई हैं, उनके आधार पर कोई ठीक पंचांग निकल सकना संभव नहीं है। फिर यह प्रश्न किया जा सकता है कि अगर वर्त्तमान में विद्यमान अंगोपांगो के आधार पर अगर कोई पंचांग नहीं बन सकता तो ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वर्तमान मे जो अंगोपांग मौजूद हैं उनके आधार से, मेरी मान्यता के अनुसार पचाग नहीं बन सकता। अतएव अगर सूत्र का नाम लेकर कोई यह

चल सकता है? शास्त्र में जितव्यवहार ही माननीय बतलाया है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—

धम्मं जियं च ववहारं बुद्धेहायरियं सया।
तमायरन्तो ववहारं गरहं नाभिगच्छई ॥

अर्थात्—धर्म के लिए आचार्यों ने मिलकर जो जिताचार बनाया है, उसी जिताचार के अनुसार व्यवहार करने वाला कदापि निन्दापात्र नहीं बनता, बल्कि आराधक ही रहता है।

इस कथन के अनुसार पाँच महापुरुष मिलकर, निस्पृहतापूर्वक विचार करके जो नियम-निर्णय करते हैं, वह जिताचार कहलाता है और जिताचार के अनुसार चलना उचित है। आजकल के लोगों की बुद्धि में उत्पात भरा रहता है अतएव संवत्सरी वगैरह के नाम पर बेकार क्लेश खड़ा किया जाता है। बुद्धिमान् पुरुषों को इस प्रकार के क्लेश से बचना चाहिए।

कालप्रतिलेखन करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है कि कालप्रतिलेखन से जीव के ज्ञानावरण आदि कर्मों की निर्जरा होती है।

भगवान् ने कालप्रतिलेखन का कितना लाभ बतलाया है? अतएव कालप्रतिलेखन करना चाहिए और जिस काल में जो काम करने योग्य हो उस काल में वही कार्य करना चाहिए। कालानुसार कार्य करने से आत्मा का कल्याण होता है।

दिन छोटा भी होता है और बड़ा भी होता है। ऐसी दशा में यह निर्णय कैसे किया जा सकता है कि इस समय से इस समय तक या इतने काल को दिवस मानना चाहिए। मान लीजिए कि एक आदमी चौविहार का त्यागी है। वह रात्रि में खाता-पीता नहीं है। वह कार्यवश भारत से अमेरिका गया। भारत में जिस समय दिन होता है, उस समय अमेरिका में रात्रि होती है, ऐसा सुना जाता है और जब वहाँ रात्रि होती है तब यहाँ दिन होता है। ऐसी स्थिति में वह चौविहार के प्रत्याख्यान का पालन किस जगह के दिवस के अनुसार करेगा ? ऐसे मनुष्य के विषय मे यही कहा जायगा कि वह जब तक अमेरिका में रहे तब तक वहाँ के दिन के अनुसार ही चौविहार का प्रत्याख्यान करे। इस पर विचारणीय बात यह उपस्थित होती है कि जब यह बात व्यवहार के अनुसार ही मानी जाती है तो संवत्सरी या पक्खी वगैरह भी लौकिक और जित व्यवहार के अनुसार न मान कर आगम के नाम पर झगड़ा करना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ?

साधु-सम्मेलन के समय संवत्सरी-पक्खी आदि का प्रश्न सामने आया था तब सबने मिलकर यह निर्णय किया था कि यह विषय कॉन्फ्रेंस को सौंप दिया जाय और कॉन्फ्रेन्स जो निर्णय करे तदनुसार ही संवत्सरी-पक्खी आदि का आराधन किया जाय। इस प्रकार का प्रस्ताव करके साधुओं ने अपने हस्ताक्षर करके यह विषय कॉन्फ्रेंन्स को सौंप दिया है। फिर भी अगर कोई साधु इस निर्णय के विरुद्ध कोई बात कहता है तो वह कैसे उचित कही जा सकती है ? यो तो प्रत्येक का मस्तिष्क और विचार जुदा-जुदा होता है। अगर प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने विचारों की बात करने लगे और निश्चय की हुई बात के विरुद्ध मत प्रकट करे तो कैसे काम

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! प्रायश्चित्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—प्रायश्चित्त करने से पाप की विशुद्धि होती है और जीव व्रतों में लगे अतिचारों से रहित हो जाता है, शुद्ध मन से प्रायश्चित्त ग्रहण करके कल्याणमार्ग और फल की भी विशुद्धि करता है तथा क्रमशः चारित्र एवं चारित्र के फल (मोक्ष) का आराधन कर सकता है।

व्याख्यान

सन्मति प्राप्त करना या पाप का छेदन करना एक ही बात है। भले ही इनमें शाब्दिक अन्तर हो मगर वास्तविक अन्तर नहीं है। प्रायश्चित्त का अर्थ पाप का छेदन करना या चित्त की शुद्धि करना है। पाप का छेदन करना, चित्त की शुद्धि करना अथवा सन्मति प्राप्त करना एक ही बात है।

प्रायश्चित्त के प्रश्न के पहले कालप्रतिलेखन का प्रश्न आया है। स्वाध्याय आदि के लिए काल का प्रतिलेखन न करने से या स्वाध्याय न करने से अथवा अकाल में स्वाध्याय करने से प्रायश्चित्त आता है।

जो मनुष्य कोई कार्य करता है, उसी के कार्य में गुण या दोष हो सकता है। काम ही न करने वाले के काम में गुण-दोष कहाँ से आएगा! घोड़े पर सवारी करने वाला ही कभी गिर सकता है। जो कभी घोड़े पर सवार ही नहीं होता, उसके लिए गिरने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसी प्रकार जो स्वाध्याय करता है, उसी को स्वाध्याय सम्बन्धी अतिचार लग सकता है और अतिचार को दूर करने के लिए ही प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

सोलहवाँ बोल।

प्रायश्चित्त



शास्त्र में कालप्रतिलेखन के विषय में विचार किया गया है। अगर कालप्रतिलेखन करने में कोई त्रुटि रह गई हो अर्थात् अकाल में स्वाध्याय आदि किया हो तो प्रायश्चित्त करना चाहिए। अतएव यहां प्रायश्चित्त पर विचार किया जाता है। प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में भगवान् से प्रश्न किया गया है—

मूलपाठ

प्रश्न–पायच्छित्तकरणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर–पायच्छित्तकरणेणं पावकम्मविसोहिं जणेइ, निरइयारे यावि भवइ, सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ, आयारं आयारफलं च आराहेइ।

होता है। यहाँ विशेष शब्द से उसी पाप को ग्रहण करने का संकेत किया गया है। उदाहरणार्थ–कोई कोई प्राणातिपात ऐसा होता है, जिसका प्रतिकार नहीं किया जा सकता। जैसे, शास्त्रीय विधि के अनुसार एक जगह से पैर उठाकर दूसरी जगह रखने से भी हिंसा होती है। किन्तु इस प्रकार की हिंसा का निवारण नहीं हो सकता। यह हिंसा शरीर के साथ लगी हुई है–जब तक शरीर तब तक यह हिंसा भी अवश्यंभावी है। अतएव इस प्रकार की हिंसा का प्रायश्चित्त भी नहीं है। एक हिंसा शास्त्र द्वारा निषिद्ध है और दूसरी शरीर के साथ लगी है। दोनों प्रकार की हिंसा में से शास्त्रनिषिद्ध हिंसा का तो प्रतीकार हो सकता है परन्तु शरीर के साथ लगी हुई हिंसा का प्रतिकार नहीं हो सकता। अतएव शरीर के साथ लगी हिंसा का प्रायश्चित्त भी नहीं है।

शास्त्र में जिन पापों का वर्णन है, उन सब के दो कारण हैं। कोई-कोई कप्पिया पाप हैं और कोई-कोई दप्पिया पाप हैं। अर्थात् कोई पाप तो लाचार होकर करना पड़ता है और कोई पाप अहंकार से किया जाता है। पाप भले ही लाचार होकर किया जाय या अहंकार से किया जाय, पर पाप तो दोनों ही है। पाप का प्रकार कोई भी क्यों न हो, मगर पाप आखिर है तो पाप ही। इस प्रकार के पाप के लिए भावप्रायश्चित्त करने से जीव को क्या लाभ प्राप्त होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है–भावप्रायश्चित्त द्वारा जीव पापकर्म की विशुद्धि करता है।

भगवान् के दिये हुए उत्तर से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'पाय' या 'प्राय' का अर्थ पाप है और प्रायश्चित्त का अर्थ पाप का विशोधन करना है। प्रायश्चित्त करने से पाप का विशोधन होता है और जीव निरतिचार बनता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की मर्यादा

प्रायश्चित्त शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की गई है। सब व्युत्पत्तियों को बतलाने का समय नहीं है, अतएव संक्षेप में सिर्फ इतना ही कहता हूँ कि 'प्रायः' और 'चित्त' इन दो शब्दों के मेल से प्रायश्चित्त शब्द बना है। टीकाकार ने इसका अर्थ करते हुए कहा है–

प्रायः पापं विजानीयात् चित्तं तस्य विशोधनम्।

प्रायः का अर्थ है–पाप। अत्यन्त रूप से आत्मा का अतिचार या दोषों में गमन करना पाप है और 'चित्त शुद्धौ' धातु से चित्त शब्द बना है, जिसका अर्थ विशोधन है। इस प्रकार जिस अनुष्ठान से या व्रत से पाप का विशोधन हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। इस प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है कि प्रायश्चित्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

प्रायश्चित्त चार प्रकार का है—(१) नाम (२) स्थापना (३) द्रव्य और (४) भाव से। नाम प्रायश्चित्त और स्थापना प्रायश्चित्त तो केवल उच्चार या कथन रूप ही है। द्रव्य प्रायश्चित्त लोकरंजन के लिए किया जाता है। वह एक प्रकार से लोक-दिखावा ही है। हृदय के पापों को नष्ट करने की भावना से जो व्रत या अनुष्ठान किया जाता है वह भाव प्रायश्चित्त है।

प्रायः शब्द का अर्थ 'विशेष' भी है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि विशेष पाप किसे कहना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सूक्ष्म अर्थात् जिसका प्रतीकार न किया जा सके उस अप्रतिकारी पाप का प्रायश्चित्त नहीं होता, वरन् जो पाप प्रतिकारी है अर्थात् जिस पाप का प्रतीकार करना शक्य है और जो कार्य शास्त्र में निषिद्ध ठहराया गया है, उसी पाप कार्य का प्रायश्चित्त

प्रायश्चित्त शब्द इतना व्यापक है कि उसे समस्त दर्शनकारों ने स्वीकार किया है। जैनशास्त्रों के अनुसार प्रायश्चित्त से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशुद्धि होती है। श्रीस्थानांगसूत्र में, तीसरे स्थानक मे प्रायश्चित्त के तीन भेद, आठवें स्थानक में आठ भेद, नौवें स्थानक में नौ भेद और दसवें स्थानक में दस भेद बतलाये हैं। इन सब का सार यही है कि प्रायश्चित्त करने से दर्शन की विशुद्धि होती है, अतः प्रायश्चित्त करना चाहिए। अन्य दार्शनिकों ने भी प्रायश्चित्त को स्वीकार किया है, पर जैनशास्त्र कहते हैं कि प्रायश्चित्त द्वारा पाप का विशोधन करो। पाप के सन्ताप से बचते रहने की इच्छा करना और पाप का त्याग न करना प्रायश्चित्त नहीं है। पाप के परिणाम से अर्थात् पाप के दंड से घबराने की आवश्यकता नहीं, वरन् पाप से भयभीत होना चाहिए।

कितनेक दर्शनकार कहते हैं—पाप तो होता ही रहता है। पाप से बचना शक्य नहीं है अतः पाप के परिणाम से बचने के लिए ईश्वर की प्रार्थना करना चाहिए। मगर जैनदर्शन कहता है कि पाप के फल से बचने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। अन्य दर्शनकारों का कथन और उसकी असंगतता, आजकल के युगप्रवर्त्तक माने जाने वाले गांधीजी की आत्मकथा का उदाहरण देकर बतलाता हूँ।

गांधीजी जब विलायत जा रहे थे तब राजकोट में उन्होंने अपनी माता के आग्रह से अपने सम्प्रदाय के बेचरजी स्वामी नामक जैन-साधु के समक्ष मदिरा, मांस और परस्त्री का त्याग किया था। इस त्याग के प्रभाव से गांधीजी विलायत में मदिरा आदि अपवित्र वस्तुओं के सेवन के पाप से बच सके थे। विलायत से भारत लौटने

का उल्लंघन होना अतिचार कहलाता है। प्रायश्चित्त से अतिचार मिट जाता है और जीव निरतिचार बनता है।

भगवान् द्वारा दिये गये उत्तर मे यह पाठ आया है—

'सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ।

इस पाठ का अर्थ यह है कि आगमोक्त विधि से प्रायश्चित्त करने वाला जीव कल्याणमार्ग और उसके फल का विशोधन करता है।

सम्यग्दर्शन मार्ग है और ज्ञानादि गुण उसका फल है। प्रायश्चित्त से यह मार्ग और उसके फल की विशुद्धि होती है। मगर यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञान से दर्शन होता है या दर्शन से ज्ञान होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि निश्चय से तो दर्शन से ज्ञान होता है परन्तु व्यवहार में ज्ञान से दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। यहाँ निश्चय नय को दृष्टिगोचर रखकर कहा गया है कि दर्शन मार्ग है और ज्ञान उसका फल है, क्योंकि दर्शन से रहित ज्ञान प्रमाण नही माना जाता। जिस ज्ञान के साथ सम्यग्-दर्शन हो वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, अन्यथा वह अज्ञान है।

भगवान् के दिये हुए उत्तर में ऐसा पाठ आया है कि—

'आयारं च आयारफलं च आराहेइ।'

अर्थात् जीव आचार और उसके फल का भी आराधक बनता है। आचार अर्थात् संयम का फल मोक्ष है। इस प्रकार भाव-प्रायश्चित्त करने वाला दर्शन की भी विशुद्धि करता है, ज्ञान की भी विशुद्धि करता है और आचार तथा उसके फल मोक्ष का भी आराधक बनता है।

प्रायश्चित्त शब्द इतना व्यापक है कि उसे समस्त दर्शनकारों ने स्वीकार किया है। जैनशास्त्रों के अनुसार प्रायश्चित्त से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशुद्धि होती है। श्रीस्थानांगसूत्र में, तीसरे स्थानक में प्रायश्चित्त के तीन भेद, आठवें स्थानक में आठ भेद, नौवें स्थानक मे नौ भेद और दसवें स्थानक में दस भेद बतलाये हैं। इन सब का सार यही है कि प्रायश्चित्त करने से दर्शन की विशुद्धि होती है, अतः प्रायश्चित्त करना चाहिए। अन्य दार्शनिकों ने भी प्रायश्चित्त को स्वीकार किया है, पर जैनशास्त्र कहते हैं कि प्रायश्चित्त द्वारा पाप का विशोधन करो। पाप के सन्ताप से बचते रहने की इच्छा करना और पाप का त्याग न करना प्रायश्चित्त नहीं है। पाप के परिणाम से अर्थात् पाप के दंड से घबराने की आवश्यकता नहीं, वरन् पाप से भयभीत होना चाहिए।

कितनेक दर्शनकार कहते हैं—पाप तो होता ही रहता है। पाप से बचना शक्य नहीं है अतः पाप के परिणाम से बचने के लिए ईश्वर की प्रार्थना करना चाहिए। मगर जैनदर्शन कहता है कि पाप के फल से बचने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। अन्य दर्शनकारों का कथन और उसकी असंगतता, आजकल के युगप्रवर्त्तक माने जाने वाले गांधीजी की आत्मकथा का उदाहरण देकर बतलाता हूँ।

गांधीजी जब विलायत जा रहे थे तब राजकोट में उन्होंने अपनी माता के आग्रह से अपने सम्प्रदाय के बेचरजी स्वामी नामक जैन-साधु के समक्ष मदिरा, मांस और परस्त्री का त्याग किया था। इस त्याग के प्रभाव से गांधीजी विलायत में मदिरा आदि अपवित्र वस्तुओं के सेवन के पाप से बच सके थे। विलायत से भारत लौटने

के पश्चात् वह फिर दक्षिण अफ्रिका गये थे। वहाँ का अनुभव लिखते हुए गांधीजी कहते हैं—

कोट्स नामक ईसाई ने ईसाई धर्म के विषय में मुझसे बहुत तर्क-वितर्क किया और मैंने भी उसके सामने बहुतेरी दलीलें दीं। मगर मेरी दलीलें उसकी समझ में नहीं आईं, क्योंकि उसे मेरे धर्म पर अश्रद्धा ही थी। वह तो उलटा मुझे ही अज्ञान-कूप से बाहर निकालना चाहता था! उसका कहना था कि दूसरे धर्मों में भले ही थोड़ा-बहुत सत्य हो मगर पूर्ण सत्य-स्वरूप ईसाई धर्म स्वीकार किये बिना तुम्हे मुक्ति नहीं मिल सकती! ईसु की कृपादृष्टि के बिना पाप धुल नहीं सकते और तमाम पुण्यकार्य निरर्थक हो जाते हैं! जब मैं कोट्स की दलीलों से प्रभावित न हुआ तो मेरा परिचय ऐसे ईसाइयो के साथ कराया गया जिन्हें वह अधिक धर्म-चुस्त समझता था। जिनके साथ उसने मेरा परिचय कराया उनमें एक प्लीमथ ब्रदरन का कुटुम्ब था। प्लीमथ ब्रदरन नामक एक ईसाई सम्प्रदाय है। कोट्स ने कुछ ऐसे परिचय कराये जो मुझे बहुत अच्छे लगे। उनके परिचय से मुझे ऐसा लगा कि वे लोग ईश्वर से डरते थे; मगर इस परिवार ने मेरे सामने यह दलील रक्खी कि तुम हमारे धर्म की खूबी समझ नहीं सकते। तुम्हारे कहने से हम जान सकते हैं कि तुम्हें क्षण-क्षण अपनी भूल का विचार करना पड़ता है और सुधार करना पड़ता है। अगर भूल न सुधरे तो तुम्हें पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इस क्रियाकांड से तुम कब छुटकारा पाओगे और कब तुम्हें शान्ति मिल सकेगी! हम सब पापी हैं, यह तो तुम मानते ही हो! अब हमारी मान्यता देखो, वह कितनी परिपूर्ण है! हमारा प्रयत्न व्यर्थ है। फिर भी आखिर मुक्ति तो हमें चाहिए ही। हम पाप का बोझ कैसे उठा सकते हैं! इसलिए

हम उस पाप का बोझ ईसु पर लाद देते हैं। ईसु ईश्वर का एकमात्र निष्पाप-पुत्र है। ईसु को ईश्वर का वरदान है। जो ईसु को मानता है, उसका पाप ईश्वर धो डालता है। यह ईश्वर की अगाध उदारता है। ईसु की मुक्ति सम्बन्धी योजना हमने स्वीकार की है, अतएव हमें हमारे पाप लगते ही नहीं हैं। पाप तो होता ही है। इस जगत् में पाप किये विना रह ही किस प्रकार सकते हैं? अतएव ईसु ने सारे संसार के पाप एक ही बार प्रायश्चित्त करके धो डाले हैं। ईसु के इस महा बलिदान को जो लोग स्वीकार करते हैं, वे उस पर विश्वास करके शान्ति-लाभ कर सकते हैं। कहाँ तुम्हारी अशान्ति और कहाँ हमारी शान्ति!

यह दलील मेरे गले न उतरी। मैंने नम्रतापूर्वक उन्हें उत्तर दिया—अगर सर्वमान्य ईसाईधर्म यही है तो मुझे वह नहीं चाहिए। मैं पाप के परिणाम से मुक्ति नहीं चाहता, मैं पापवृत्ति से और पाप-कर्म से मुक्त होना चाहता हूँ।'

गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में इस आशय का उल्लेख किया है। इस उल्लेख का सरल अर्थ यह है कि गांधीजी कहते थे कि पाप के परिणाम से नहीं बचना चाहिए वरन् पापवृत्ति से बचना चाहिए। पापवृत्ति से बचकर ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। तब उनके ईसाई मित्रों का कहना था कि पाप का सारा बोझ ईसु पर ही डाल देना चाहिए। ईसु पर विश्वास रखने से वह हमारे समस्त पाप धो डालता है। गांधीजी ने इस दलील के उत्तर में कहा था कि पाप तो करना मगर उसका दंड न भोगना, यह उचित कैसे कहा जा सकता है? मैं तो पाप के दंड से नहीं बचना चाहता। मैं पापवृत्ति से ही बचना चाहता हूँ।

के पश्चात् वह फिर दक्षिण अफ्रिका गये थे। वहाँ का अनुभव लिखते हुए गांधीजी कहते हैं—

कोट्स नामक ईसाई ने ईसाई धर्म के विषय में मुझसे बहुत तर्क-वितर्क किया और मैंने भी उसके सामने बहुतेरी दलीलें दीं। मगर मेरी दलीलें उसकी समझ में नहीं आईं, क्योंकि उसे मेरे धर्म पर अश्रद्धा ही थी। वह तो उलटा मुझे ही अज्ञान-कूप से बाहर निकालना चाहता था! उसका कहना था कि दूसरे धर्मों में भले ही थोड़ा-बहुत सत्य हो मगर पूर्ण सत्य-स्वरूप ईसाई धर्म स्वीकार किये विना तुम्हें मुक्ति नहीं मिल सकती! ईसु की कृपादृष्टि के विना पाप धुल नहीं सकते और तमाम पुण्यकार्य निरर्थक हो जाते हैं! जब मैं कोट्स की दलीलों से प्रभावित न हुआ तो मेरा परिचय ऐसे ईसाइयों के साथ कराया गया जिन्हें वह अधिक धर्म-चुस्त समझता था। जिनके साथ उसने मेरा परिचय कराया उनमें एक प्लीमथ ब्रदरन का कुटुम्ब था। प्लीमथ ब्रदरन नामक एक ईसाई सम्प्रदाय है। कोट्स ने कुछ ऐसे परिचय कराये जो मुझे बहुत अच्छे लगे। उनके परिचय से मुझे ऐसा लगा कि वे लोग ईश्वर से डरते थे; मगर इस परिवार ने मेरे सामने यह दलील रक्खी कि तुम हमारे धर्म की खूबी समझ नहीं सकते। तुम्हारे कहने से हम जान सकते हैं कि तुम्हें क्षण-क्षण अपनी भूल का विचार करना पड़ता है और सुधार करना पड़ता है। अगर भूल न सुधरे तो तुम्हें पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इस क्रियाकांड से तुम कब छुटकारा पाओगे और कब तुम्हें शान्ति मिल सकेगी! हम सब पापी हैं, यह तो तुम मानते ही हो! अब हमारी मान्यता देखो, वह कितनी परिपूर्ण है! हमारा प्रयत्न व्यर्थ है। फिर भी आखिर मुक्ति तो हमें चाहिए ही। हम पाप का बोझ कैसे उठा सकते हैं! इसलिए

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—

गोयमा ! सकडा कम्मं वेदयंति, नो परकडा ।

अर्थात्—हे गौतम ! जीव अपने कर्मों को ही भोगता है, दूसरों के किये कर्म को नहीं भोगता ।

यद्यपि भगवान् ने ऐसा कहा है लेकिन आजकल तो यह देखा जाता है कि अगर कोई खंभे से टकराता है तो वह खंभे को ही दोष देने लगता है, मगर अपनी असावधानी का खयाल नहीं करता । इसी प्रकार अज्ञानी अपने पापकर्मों की ओर नजर नहीं डालते बल्कि दूसरों को दोष देने को तैयार रहते हैं ! इससे विरुद्ध ज्ञानी जन अपने ही पापों को देखते हैं और उनका प्रायश्चित्त करते हैं । तुम भी अपने पापों को देखो और उनका प्रायश्चित्त करो तो तुम्हारा कल्याण होगा ।

इस प्रकार दूसरे लोग पाप से बचने के बदले पाप के फल से बचना चाहते हैं, परन्तु जैनधर्म कहता है कि पाप के परिणाम से बचने की कामना मत करो, पाप से ही बचने की इच्छा करो और उसके लिए प्रायश्चित्त करो।

नरक में भी दो प्रकार के जीव हैं—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि। सम्यग्दृष्टि पाप को बुरा समझते हैं, नरक को नहीं। मगर मिथ्यादृष्टि नरक को बुरा समझ कर गालियां देते हैं। सम्यग्दृष्टि पाप को बुरा समझता है और पाप को नष्ट करने के लिए प्रायश्चित्त करता है, मगर मिथ्यादृष्टि नरक को खराब समझता है और उसे गालियां देकर और अधिक पापकर्म उपार्जन करता है। जैनशास्त्र का आदेश है कि पाप से बचो, पाप के परिणाम से बचने की इच्छा मत करो।

इस कथन को दृष्टि में रखकर तुम अपने कर्त्तव्य का विचार करो। इस कथन का सार यही है कि पापवृत्ति से बचते रहना चाहिए, फिर भी कदाचित पाप हो जाय तो उसके फल से बचने की कामना नहीं करनी चाहिए वरन् फल भोगने के लिए तैयार रहना चाहिए। मानना चाहिए कि मैं जो दुःख भोग रहा हूँ वह मेरे ही पाप का परिणाम है, चाहे वह फल इसी जन्म के पाप का हो अथवा किसी और जन्म का हो। श्री भगवतीसूत्र मे इस संबंध में प्रश्न पूछा गया है—

'से नूनं भंते! सकडा कम्मं वेदयंति, परकडा वेदयंति?

अर्थात्—हे भगवन्! जीव अपने किये कर्मों से दुःख पाते है या दूसरों के किये कर्मों से दुःख पाते हैं?

मूलपाठ

प्रश्न—खमावणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ, पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु मेत्तीभावमुप्पाएइ, मेत्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—हे भगवन् ! क्षमा मांगने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—क्षमा माँगने से चित्त में प्रसन्नता होती है और चित्त में प्रसन्नता होने से जीव जगत् के समस्त प्राणी, भूत, जीव और सत्व—इन चारों प्रकारों के जीवों में मित्रभाव उत्पन्न कर सकता है और मित्रभाव पाकर अपनी भावना विशुद्ध करके अन्त मे निर्भय बनता है।

व्याख्यान

सब से पहले यह विचारना चाहिए कि क्षमापणा का मतलब क्या है ? किसी के ऊपर द्वेष उत्पन्न हुआ हो, वैमनस्य हुआ हो या किसी का दिल दुखाया हो तो उस दुःख आदि को दूर करने के लिए और उसके चित्त को शान्ति पहुँचाने के लिए जिस क्रिया का सहारा लिया जाता है, उस क्रिया को क्षमापणा कहते हैं। क्षमा वही दे सकता है और वही माँग सकता है, जिसने प्रायश्चित्त द्वारा अपना मन शान्त कर लिया हो। इस प्रकार दूसरे के मन को जिसके द्वारा शान्ति पहुँचाई जाती है, उसी क्षमापणा के विषय मे भगवान्

२१

सत्तरहवाँ बोल ।

क्षमापणा

प्रायश्चित्त के विषय में विचार किया जा चुका है। यहाँ क्षमापणा के सम्बन्ध में विचार करना है। प्रायश्चित्त और क्षमापणा में आपस में क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार कहते हैं कि—जब प्रायश्चित्त द्वारा पाप का छेदन कर डाला जाता है तब चित्त समतोल बन जाता है। चित्त की समतोल अवस्था होने पर यह विचार उत्पन्न होता है कि मैंने अमुक-अमुक का अपराध किया है और अमुक का अमुक प्रकार से दिल दुखाया है। अतएव मैं उससे क्षमायाचना करके निर्वैर बनूं। इस प्रकार विचार उत्पन्न होने से क्षमा माँगने का निश्चय होता है। इसी कारण प्रायश्चित्त के पश्चात् क्षमापणा के विषय मे भगवान् से प्रश्न पूछा गया है।

रहने देना चाहिए। अपना हृदय सर्वथा वैरहीन बना लेना ही क्षमापणा का उद्देश्य है। विश्व के समस्त जीवों के प्रति निर्वैरभाव रखना और विश्वमैत्री पनपाना एवं विकसित करना क्षमापणा का महान् आदर्श और उद्देश्य है। सब जीव तो खैर दूर रहे, किन्तु मनुष्यों का संसर्ग विशेष रूप से रहता है और इस कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच कलुषता होना अधिक संभव है। अतः मनुष्यों के प्रति निर्वैर-भाव प्रकट करने के लिए, सर्व प्रथम अपने घर के लोगों के साथ अगर कलुषता हुई हो या उनके द्वारा कलुषता हुई हो तो उसे हृदय से निकाल कर क्षमा धारण करना चाहिए और इस प्रकार हृदय शुद्ध करके धीरे धीरे विश्वमैत्री का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह विश्व के जीव मात्र के प्रति क्षमा का आदान-प्रदान करने से चित्त में प्रसन्नता होती है और चित्त की प्रसन्नता से भाव की विशुद्धि होती है। अगर दूसरे की ओर से तुम्हारे हृदय को चोट पहुँची हो तो उसे उदारतापूर्वक क्षमा देना चाहिए और यदि तुमने किसी का हृदय दुखी किया हो तो तुम्हें नम्रतापूर्वक क्षमा माँगना चाहिए। यही सच्ची क्षमापणा है।

तुम प्रायः हमेशा ही क्षमापणा करते हो परन्तु सब से पहले यह देखो कि तुम्हारी क्षमापणा सच्ची है-हृदयपूर्वक है अथवा केवल प्रथा का पालन करने के लिए ही है? देखना, कहीं ऐसा तो नहीं होता कि प्रतिक्रमण करके उपाश्रय में तो भाई के साथ क्षमापणा का व्यवहार करो मगर उपाश्रय से बाहर निकलने के बाद भाई पर दावा किया हुआ मुकदमा चालू रखते होओ? इस तरह बाहर से क्षमाभाव बतलाओ और भीतर भीतर वैरभाव रक्खो तो वह सच्ची क्षमापणा नहीं है। सच्चे भाव से क्षमापणा की जाय तो आपसी झगड़े आगे चालू नहीं रह सकते। सच्ची क्षमापणा करने वाला तो यही कहेगा कि अब तुम्हारे और मेरे बीच केस नहीं चल सकता।

से प्रश्न किया गया है कि हे भगवन् ! क्षमापणा करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—हे शिष्य ! क्षमापणा करने से प्राणी, भूत, जीव और सत्व के प्रति मैत्रीभावना उत्पन्न होती है।

प्राण धारण करने वाला प्राणी कहलाता है। जो भूतकाल में भी था उसे 'भूत' कहते है। जो भूतकाल में जीवित था, वर्त्तमान में जीवित है और भविष्य में जीवित रहेगा वह जीव कहलाता है। और जो अपनी ही सत्ता से जीवित है उसे 'सत्व' कहते हैं। प्राणी शब्द से दोइंद्रिय, तीन-इन्द्रिय और चार इन्द्रिय वाले जीवों का बोध होता है। भूत शब्द से वनस्पति आदि का बोध होता है। सत्व शब्द से पृथ्वी, पानी, वायु और अग्नि काय के जीवों का ग्रहण होता है। जीव शब्द से पंचेन्द्रिय प्राणियो का ग्रहण होता है। भेद-विचार से इस प्रकार का बोध होता है।

भगवान् का कथन है कि प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व को खमाने वाला सभी जीवों के प्रति मैत्रीभावना उत्पन्न करता है।

अपनी परम्परा में ता चौरासी लाख जीवयोनियों को खमाने की रीति प्रचलित है, मगर जहाँ विरोध उत्पन्न हुआ हो वहाँ क्षमा मांगना ही सच्ची क्षमायाचना की कसौटी है। दूसरे के दिल को दुख पहुँचाया हो, हृदय मे कलुषता उत्पन्न की हो, इसी प्रकार दूसरे की तरफ से अपने हृदय में विरोध या कलुषता की उत्पत्ति हुई हो तो उस विरोध और कलुषता को क्षमा के आदान प्रदान द्वारा शान्त कर डालना ही सच्ची क्षमापणा है। एकेन्द्रिय अथवा द्वीन्द्रिय आदि जीवों की ओर से तुम्हें किसी प्रकार का संताप हुआ हो तो उसे भूल जाना चाहिए और हृदय में किसी भी प्रकार की कलुषता नहीं

पानी के लिए कहीं नहीं जा सकते, इतना ही नहीं, पर स्वाध्याय भी नहीं कर सकते। शौच जाना आवश्यक माना गया है लेकिन क्षमापणा किये बिना साधु शौच भी नहीं जा सकते। सब से पहले अपने आत्मा में दूसरों की तरफ से असमाधि उत्पन्न हुई हो उसे दूर करो फिर भले ही दूसरा काम करो। जब तक असमाधि दूर न हो, दूसरा कोई काम मत करो।

तुम्हारे घर में आग लगी हो तो पहले आग बुझाने का प्रयत्न करोगे या कहोगे कि पहले भोजन कर लें और फिर आग बुझाते रहेंगे? तुम तत्काल सब काम छोड़कर पहले आग बुझाने का ही प्रयत्न करोगे। इसी प्रकार शास्त्र कहता है—हे साधुओ! तुम्हारे अन्तःकरण में जो भाव-अग्नि लग रही है, उसे सब से पहले शान्त करो। उसके बाद दूसरे काम करो।

कदाचित् कोई कहे कि मैं तो अमुक को खमाता हूँ पर वह मुझे क्षमा नहीं देता, ऐसी स्थिति में मैं क्या करूँ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र कहता है—

भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं विवसमित्ता विओसइयपाहुडे इच्छा य परो आढाइज्जा इच्छा य परो न आढाइज्जा, इच्छा य परो अब्भुट्ठेज्जा, इच्छ य परो न अब्भुट्ठेज्जा, इच्छा य परो वंदेज्जा, इच्छा य परो न वंदेज्जा इच्छा य परो संभुँज्जेज्जा, इच्छा य परो न संभुँज्जेज्जा, इच्छा य परो संवसिज्जा, इच्छा य परो न संवसिज्जा, इच्छा य परो उवसमिज्जा, इच्छा य परो न उवसमिज्जा। जो उवसम्मइ

तुम्हारी इच्छा हो तो हमारा देना दे जाना, नहीं तो तुम्हारी इच्छा ! तुम्हारे प्रति अब मेरे अन्तःकरण में किसी प्रकार का वैरभाव नहीं है। अब तुम्हारे ऊपर मेरा मैत्रीभाव है। सच्चा सम्यग्दृष्टि ऐसी क्षमापणा करता है।

तुम गृहस्थ ठहरे। तुम्हारी आपस में खटपट हो जाना स्वाभाविक है। मगर कभी-कभी हम साधुओं में भी खटपट हो जाती है। जहाँ दो चूड़ियाँ होगी, आवाज़ होगी ही। इस कथन के अनुसार साधुओं में भी परस्पर खटपट हो जाती है। मगर साधुओं के लिए शास्त्र कहता है कि अगर किसी के साथ तुम्हारी खटपट हो गई हो तो जब तक उससे क्षमा न माँगलो तब तक दूसरा काम मत करो। इसके लिए शास्त्र में कहा है—

भिक्खाय अहिगरणं कट्टु अवि ओसिमता (?) नो से कप्पई गाहावई कुलं भत्ताय पाणाय वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा बहिया विहारभूमिं वा अविहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

इस सूत्रपाठ का भावार्थ यह है कि अगर साधुओं में आपस में अनबन हो गई हो तो, हे साधुओ ! पहले उस अनबन को दूर कर क्षमापणा करो। जहाँ तक तुम अपना अपराध क्षमा न करवा लो तहाँ तक किसी के घर आहार पानी लेने न जाओ, शौचादि मत जाओ और न स्वाध्याय भी करो।

इस प्रकार शास्त्र की आज्ञा है कि अगर साधुओं से आपस में किसी तरह की अनबन हो गई हो तो उसी समय खमा लेना चाहिए। जब तक साधु क्षमापणा न कर ले तब तक वह आहार-

अगर तुम उसे खमाकर उसकी निन्दा करते हो तो समझना चाहिए कि तुमने सच्चे रूप में खमाया ही नहीं है। वह नहीं खमाता तो उसके कर्म भारी होंगे, मगर तुम तो अपनी ओर से क्षमापणा करके उपशान्त हो जाओ। अगर तुम हृदयपूर्वक दूसरे से खमाते हो तो तुम आराधक ही हो।

कहने का आशय यह कि कोई दूसरा खमावे या न खमावे लेकिन तुम तो दूसरे को खमा ही लो। अगर तुम दूसरे को खमा लेते हो तो तुम अपने हृदय की कलुषता दूर करते हो। जिसके चित्त की कलुषता दूर हो जाती है उसका चित्त प्रसन्न हो जाता है। योग-सूत्र में कहा है—

'भावनातश्चित्तप्रसादनम्।'

अर्थात्-भावना से चित्त को प्रसन्नता प्राप्त होती है। चित्त को प्रसन्न करने वाली भावनाएँ चार हैं—करुणाभावना, मध्यस्थ भावना, प्रमोदभावना और मैत्रीभावना। क्षमापणा करने से मैत्री-भावना प्रकट होती है। दूसरे के साथ वैरविरोध या क्लेश-कंकास हो गया हो तो उससे क्षमा का आदान-प्रदान करके हृदय में मैत्रीभावना प्रकट करनी चाहिए। ऊपर-ऊपर से क्षमापणा की जाय तो वह सच्ची मैत्रीभावना नहीं है।

भगवान कहते हैं—क्षमापणा करने से हृदय का पश्चात्ताप और क्लेश कलह मिट जाता है तथा हृदय में प्रसन्नता एवं प्राणी-मात्र के प्रति मैत्री भावना उत्पन्न होती है। इस प्रकार क्षमापणा द्वारा प्रसन्नता और मैत्रीभावना प्रकट हो जाने के फलस्वरूप किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता अर्थात् निर्भयता प्राप्त होती है।

तस्स अत्थि आराहणा, जो न उवसम्मइ नत्थि तस्स आराहणा। तम्हा अप्पणा चेव उवसम्मिएव्वं, स किमाहु भंते! उवसमं उवसमसारं सामरणं।

—बृहत्कल्पसूत्र।

इस सूत्रपाठ का भावार्थ यह है कि जिसके साथ तुम्हारी अनबन या बोलचाल हो गई हो, उसकी इच्छा हो तो तुम्हारा आदर करे, इच्छा न हो तो आदर न करे, उसकी इच्छा हो तो तुम्हे वंदना करे, इच्छा न हो तो वंदना न करे, उसकी इच्छा हो तो तुम्हारे साथ भोजन करे, इच्छा न हो तो साथ भोजन न करे, उसकी इच्छा हो तो तुम्हारे साथ रहे, इच्छा न हो तो साथ न रहे; उसकी इच्छा हो तो उपशान्त हो जाय, इच्छा न हो तो उपशान्त न हो। तुम उसके इन कृत्यो को मत देखो, अपनी ओर से क्षमायाचना कर लो। तुम तो अपनी ओर ही देखो। दूसरा खमाता है या नहीं, यह देखने को आवश्यकता नही। तुम तो अपने अपराध के लिए क्षमा मांग लो और उसके अपराध के लिए अपनी ओर से क्षमा कर दो। वह तुम्हारा अपराध-क्षमा करे या न करे, तुमसे क्षमायाचना करे या न करे, मगर तुम अपनी ओर से तो क्षमा मॉग ही लो और क्षमा दे भी दो।

यह कथन सुनकर शिष्य ने भगवान् से पूछा—भगवन्! ऐसा किस लिए करना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा—श्रमणता का सार उपशान्त होना है, अतः तुम उपशान्त हो जाओ।

शास्त्र यह कहकर साथ ही यह भी कहा है कि तुम उसे खमाओ और वह तुम्हे न खमावे तो तुम उसकी निन्दा मत करो।

अपने निश्चय के अनुसार उदायन राजा ने उज्जैन पर चढ़ाई कर दी और उज्जैन पर विजय प्राप्त करके चंडप्रद्योत को कैद कर लिया। उदायन राजा विजय प्राप्त करके अपने देश की ओर लौट रहा था कि संवत्सरी पर्व निकट आने पर उसकी आराधना करने के लिए दशार्णपुर—वर्त्तमान मन्दसौर नगर में ठहर गया। उदायन ने अपनी सेना से कहा—'कल मेरा महापर्व है। मैं उस पर्व की आराधना करूँगा और प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव धारण करूँगा। अतएव इस बात का खयाल रखना कि कल किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचे।' सेना से यह कहकर उसने अपने रसोइया को बुलाया और चंडप्रद्योत की ओर संकेत करके कहा—'यद्यपि इस समय यह मेरे कब्जे में हैं, फिर भी राजा हैं। अतः कल इनकी इच्छा के अनुसार भोजन की व्यवस्था करना और ध्यान रखना कि इन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने पाए। मैं कल संवत्सरी पर्व की आराधना करूँगा।'

चंडप्रद्योत को पता था कि उदायन राजा संवत्सरी के दिन सब जीवों के प्रति मैत्रीभाव धारण करके, सबसे क्षमायाचना करते हैं और उदारभाव से क्षमादान देते हैं। उसने सोचा—बस, कल का दिन ही मेरे लिए बन्धन से मुक्त होने के लिए उपयुक्त है। इस प्रकार विचारकर चंडप्रद्योत ने उदायन से कहा—'कल मैं भी आपके साथ संवत्सरी महापर्व की आराधना करूँगा और आपके साथ ही पौषध करूँगा।' उदायन ने कहा—'आपने पहले कभी पौषध नहीं किया है, अतः कष्ट होगा। बलात्कार से किसी से धर्म करवाना धर्म नहीं कहा जा सकता। इसलिए पौषध करने के विषय में अच्छी तरह विचार करलो।' चंडप्रद्योत बोला—आप पौषध करेंगे और मैं नहीं कर

भगवान् ने क्षमापणा का यह फल बतलाया है। मगर इस फल की प्राप्ति उन्हें होती है जो सच्चे हृदय से क्षमा-याचना करते है और क्षमादान करते हैं। केवल प्रथा का पालन करने के लिए क्षमा मांगना और देना एक बात है और हृदय से क्षमा का आदान-प्रदान करना दूसरी बात है। किस प्रकार हृदय से क्षमायाचना की जाती है और क्षमा दी जाती है, इस विषय में एक प्रसिद्ध उदाहरण देना उपयोगी होगा।

सोलह देशों के महाराजा उदायन की स्वर्णगुटिका नामक दासी को उज्जैन का राजा चंडप्रद्योत चुरा ले गया। दासी चुराई गई है, यह बात उदायन के कानों में पडी, फिर भी श्रावक होने के कारण उसने चंडप्रद्योत को सहसा दंड देने की व्यवस्था नहीं की। उसने दासी को लौटा देने का सन्देश चंडप्रद्योत के पास भेजा। उदायन के इस सन्देश के उत्तर में अभिमान से भरे चंडप्रद्योत ने कहला भेजा—'हम राजा हैं। रत्नभोक्ता हैं। श्रेष्ठ रत्न प्राप्त करके भोगने का हमें अधिकार है। दासीरत्न को हम अपने बल-बूते पर ले आये हैं। क्षत्रिय किसी चीज की याचना करना नहीं जानते। हम अपनी शक्ति के भरोसे दासीरत्न लाये है और उसे लौटा नहीं सकते। अगर उदायन राजा में शक्ति हो तो वह अपनी दासी को वापिस ले जावे। माँगने से दासी नहीं मिल सकेगी।'

चंडप्रद्योत ने अपने सैन्य बल के अभिमान में मस्त होकर यह उत्तर दिया! उदायन ने चंडप्रद्योत का यह उत्तर सुनकर कहा—'चोरी करना क्षत्रियों का धर्म है! और माँगना क्षत्रियों का धर्म नहीं है! उसने मुझे कायर समझा होगा, मगर देखता हूँ वह दासी को कैसे नहीं सौंपता!' यह कहकर उदायन ने चंडप्रद्योत के साथ युद्ध करने का निश्चय कर लिया।

राध देखो और सब से क्षमायाचना करके प्राणीमात्र के प्रति मैत्री-भाव स्थापित करो।

उदायन ने कहा—मैंने आपको कैद किया और आपका राजपाट छीन लिया है, इस अपराध के लिए मुझे क्षमा दीजिए।'

इसे कहते हैं क्षमापणा! इस प्रकार की सच्ची क्षमापणा ही हृदय को प्रसन्नता प्रदान करती है। उदायन के मन में यह अभिमान आना स्वाभाविक था कि मैं मालव-नरेश को जीत कर कैद कर लाया हूँ। मगर नहीं, उसने यह अभिमान नहीं किया, यही नहीं वरन् अपनी इस विजय को पश्चात्ताप का कारण बनाया।

चंडप्रद्योत को पहले ही मालूम हो गया था कि संवत्सरी का दिन ही इस बंधन से मुक्त होने का स्वर्ण-अवसर है। अतएव उसने उदायन के कथन के उत्तर में कहा—'महाराज! इस प्रकार क्षमा-याचना करने से मुझे किस प्रकार शान्ति मिल सकती है? आखिर तो मैं भी क्षत्रिय राजा हूँ। इस समय मैं राजपद से भ्रष्ट होकर कैदी-जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। इस स्थिति में मेरे हृदय में कैसे भाव उठते होंगे? पदभ्रष्ट राजा कैद करने वाले को किस प्रकार क्षमा कर सकता है? उसका हृदय तो संताप से धधकता रहता है। फिर भी ऊपर से क्षमा करना तो एक प्रकार का दंभ ही कहा जा सकता है। मैं इस प्रकार का दंभ नहीं करना चाहता।'

चंडप्रद्योत की इस बात पर उदायन को क्रोध आ सकता था, मगर उदायन ने अपने मन में सोचा—इसका कहना तो ठीक है। उसने चंडप्रद्योत से कहा—'मैं तुम्हारा अभिप्राय समझता हूँ। वास्तव में तुम अपने पद से भ्रष्ट हो गये हो और इस समय मेरी कैद में हो, अतएव तुम्हारे हृदय में शान्ति कैसे हो सकती है? इस समय तो मैं कुछ नहीं कर सकता, लेकिन विश्वास दिलाता हूँ कि जो कुछ मैंने

सकूँगा ? नहीं, मैं भी आपके साथ पौषध करूँगा।' उदायन ने कहा—'तो जैसी आपकी इच्छा।'

उदायन और चंडप्रद्योत ने एक ही जगह और एक ही विधि से पौषध व्रत अंगीकार किया, मगर दोनों के भाव जुदा-जुदा थे। संध्या समय उदायन ने प्रतिक्रमण किया और समस्त जीवों से क्षमा-याचना की।' चंडप्रद्योत ने भी इसी प्रकार किया। जब उदायन ने सब जीवों के प्रति क्षमायाचना की तब चंडप्रद्योत पास ही था। उदायन ने उससे कहा—'संसार बहुत विषम है और यहाँ साधारण बात में भी क्लेश हो जाता है। तुम्हारे साथ जो युद्ध हुआ वह भी साधारण सी बात के लिए ही था। मैं हृदय से चाहता था कि किसी प्रकार युद्ध टल जाय, लेकिन तुमने जो उत्तर दिया, उसने राजकर्तव्य की रक्षा के लिए मुझे युद्ध करने के लिए विवश कर दिया। मेरे लिए क्षात्रधर्म और राजनीति का पालन करना आवश्यक था और इसी कारण तुम्हारे साथ युद्ध करना पड़ा और तुम्हें कष्ट देना पड़ा। संसार संबंधी प्रपंच के कारण ही तुम्हें कष्ट देना पड़ा, लेकिन उस कष्ट के लिए अब मैं क्षमायाचना करता हूँ।'

अगर अपराध था तो चडप्रद्योत का ही था, फिर भी उदायन ने उसके लिए क्षमा माँगी। जैनधर्म कहता है—तू अपना अपराध देख, दूसरों का मत देख। अगर तू दूसरों का अपराध देखेगा तो दूसरों से क्षमा नहीं मांग सकेगा और न उन्हें क्षमा दे ही सकेगा। इसलिए तू अपने ही अपराधों की ओर दृष्टिपात कर और उनके लिए क्षमाप्रार्थी बन। चंडप्रद्योत ने उदायन का कितना अपराध किया था ? किसी ने तुम्हारा भी अपराध किया होगा परन्तु वह चंडप्रद्योत जैसा शायद ही हो ! फिर क्या तुम सामान्य अपराध के लिए भी क्षमा नहीं कर सकते ? तुम दूसरों के अपराध न देखकर अपने ही अप-

चंडप्रद्योत को आश्वासन देकर उदायन निर्भय हुआ। उदायन की यह उदारता देख चंडप्रद्योत की आँखों से आंसू बहने लगे। उसने कहा—मैंने आपका अपराध किया और उस पर भी उदंडतापूर्वक उत्तर दिया। इसी कारण आपको इतना कष्ट सहन करना पड़ा, फिर भी आपकी उदारता धन्य है! आपकी इस उदारता से मैं इतना प्रभावित हूँ कि अब अगर आप मुझे कुछ भी न लौटाएँ तो भी मेरे हृदय में आपके प्रति वैरविरोध नहीं है।

संवत्सरी के दूसरे दिन उदायन ने चंडप्रद्योत को मुक्त करते हुए कहा—यह संवत्सरी महापर्व का ही प्रताप है कि तुम मेरे हृदय को पहचान सके और मैं तुम्हारे हृदय को परख सका। संवत्सरी पर्व का सुअवसर न आया होता तो हम लोग एक दूसरे के हृदय का न जान पाते।

चंडप्रद्योत को साथ लेकर उदायन अपने राज्य में आया। वहाँ उसने अपनी कन्या उसे ब्याह दी। उसने कन्यादान में जीता हुआ और कुछ अपना राज्य चंडप्रद्योत को दे दिया तथा वह सुवर्णगुटका दासी भी दे दी।

इसे कहते हैं क्षमापणा! क्षमा के आगे किसी भी प्रकार का वैर-विरोध या क्लेश-कलह नहीं ठहर सकता। तुम क्षमापणा तो करते हो, मगर जिसके साथ क्षमापणा करते हो, उसके प्रति वैरभाव तो अवशेष नहीं रहने देते? हृदय से की हुई क्षमापणा के सामने वैर-विरोध कैसे टिक सकता है? भगवान् कहते हैं—सच्ची क्षमापणा करने वाला ही मेरा आराधक है। अतएव सच्चे आराधक बनने के लिए सच्ची क्षमापणा करो। सच्चे हृदय से क्षमापणा करोगे तो तुम्हारा कल्याण हुए विना नहीं रहेगा।

तुम से जीत लिया है, वह सब तुम्हें लौटा दूंगा और कुछ अधिक भी दे दूंगा। इतना ही नहीं वरन तुम्हे पहले की तरह सन्मान भी दूंगा। लो अब तो मेरा अपराध क्षमा करोगे न?

उदायन की यह उदारता देखकर चंडप्रद्योत की आँखों मे आंसू आ गये। वह अपने मन में कहने लगा—'कितनी उदारता है!' वस्तुतः उदायन की इस प्रकार की उदारता का महत्व चंडप्रद्योत ने ही समझा था। उस समय उदायन, चंडप्रद्योत को कितना प्रिय लगा होगा, यह तो चंडप्रद्योत ही जाने। सीता को राम और दमयन्ती को नल कितने प्यारे लगते थे, सो सीता और दमयन्ती को छोड़ और कौन अनुमान कर सकता है।

उदायन इस प्रकार की उदारता प्रदर्शित करके निर्भय हो गया। लोग समझते हैं कि जो विजयी होता है वह निर्भय बन जाता है और पराजित होने वाला भयग्रस्त रहता है। पर वास्तविकता ऐसी नहीं है। विजयी, पराजित से अधिक भयभीत रहता है, क्योंकि उसके मन में सदैव यह शंका बनी रहती है कि पराजित शत्रु कहीं बलवान् होकर वैर भँजाने के लिए चढ़ाई न कर दे!

मान लीजिए, एक राजा ने किसी मनुष्य को कैद कर लिया। अब विचार कीजिए, भय किसे अधिक है? राजा को या कैदी को? राजा सदैव भयभीत रहता है कि कैदी कहीं छूट न जाय और वैर का बदला न ले बैठे! इस प्रकार कैदी की अपेक्षा कैद करने वाले को अपेक्षाकृत अधिक भय बना रहता है।

तुम धनवान् हो और हमारे पास धन नहीं है। विचार करो भय किसे ज्यादा है? तुम्हें भय है या हमें? धन होने के कारण तुम दिन-रात भय से व्याकुल रहते हो। भयजनक धन का त्याग करने पर ही तुम निर्भय बन सकते हो।

व्याख्यान

स्वाध्याय पर विचार करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि क्षमापणा और स्वाध्याय के बीच परस्पर क्या सम्बन्ध है? स्वाध्याय और क्षमापणा का सम्बन्ध बतलाते हुए टीकाकार कहते हैं कि स्वाध्याय करने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है चित्त के विकार दूर करने की। लोक में कहावत है कि प्रत्येक शुभ कर्म में स्वच्छ होकर प्रवृत्त होना चाहिए। अतएव शुद्ध होकर स्वाध्याय करना उचित है, मगर वह शुद्धता बाह्य ही नहीं आन्तरिक भी होनी चाहिए। संसार में बाह्य स्वच्छता देखी जाती है, आन्तरिक स्वच्छता उतनी नजर नहीं आती। मगर वास्तव में आन्तरिक स्वच्छता की बड़ी आवश्यकता है। यह आन्तरिक स्वच्छता क्षमापणा द्वारा होती है। क्षमापणा आन्तरिक मैल को दूर कर, अन्तरंग को स्वच्छ बनाने का सुन्दर से सुन्दर साधन है। क्षमापणा द्वारा आन्तरिक शुद्धि करने के पश्चात् निकम्मा नहीं बैठ रहना चाहिए, वरन स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्याय करने से क्या लाभ होता है? यह प्रश्न भगवान् से पूछा गया है। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—हे शिष्य! स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षय होता है।

अब विचार करना है कि स्वाध्याय का अर्थ क्या है? सु+अध्याय अर्थात् सुष्ठु अध्याय स्वाध्याय कहलाता है। अध्याय का अर्थ है–पठन-पाठन। मगर पठन-पाठन तो कामशास्त्र आदि का भी हो सकता है। मगर यहाँ ऐसे पठनपाठन का प्रकरण नहीं है। यह बात बतलाने के लिए 'अध्याय' शब्द के साथ 'सु' उपसर्ग लगाया गया है। 'सु' उपसर्ग का अर्थ सुष्ठु या श्रेष्ठ होता है। इस प्रकार स्वाध्याय का अर्थ होता है–श्रेष्ठ पठन-पाठन। जैन शास्त्र के

२२

अठारहवाँ बोल।

स्वाध्याय



स्व-पर के कल्याण-साधन के लिए शास्त्र में अनेक उपाय बतलाये हैं। क्षमापणा भी उनमें से एक उपाय है। पिछले प्रकरण में उस पर विचार किया गया है। अब स्वाध्याय को कल्याण का का सोपान गिन कर उस पर विचार किया जाता है स्वाध्याय के सम्बन्ध में भगवान् से इस प्रकार प्रश्न पूछा गया है:—

मूलपाठ

प्रश्न—सज्झाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! स्वाध्याय करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—स्वाध्याय करने से जीव ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षय करता है।

स्वाध्याय का चौथा भेद अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा का अर्थ तत्त्व का विचार करना है। सूत्रवाचना के विषय में तात्त्विक विचार करना अनुप्रेक्षा है। इस प्रकार सूत्रवाचना, पृच्छना, पर्यटना और अनुप्रेक्षा करने के बाद धर्मकथा करने का विधान किया गया है।

धर्मकथा स्वाध्याय का पाँचवाँ भेद है।

स्वाध्याय का स्पष्ट अर्थ करते हुए टीकाकार कहते हैं—

यत् खलु वाचनादेरासेवनमत्र भवति विधिपूर्वम्।
धर्मकथान्तं क्रमशः तत् स्वाध्यायो विनिर्दिष्टः॥

अर्थात्—वाचना, पृच्छना से लेकर धर्मकथा पर्यन्त का विधिपूर्वक सेवन करना स्वाध्याय है।

टीकाकार ने वाचना आदि के विधिपूर्वक सेवन को स्वाध्याय कहा है। तो फिर स्वाध्याय की विधि क्या है, यह भी जानना चाहिए। मगर अन्य ग्रंथों में स्वाध्याय का कैसा महत्व बतलाया गया है, यह जान लेना आवश्यक है। योगसूत्र में स्वाध्याय का महत्व प्रकट करते हुए कहा है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

अर्थात्—स्वाध्याय से इष्ट देवता का संप्रयोग होता है। मूलसूत्र में तो सिर्फ यही कहा गया है कि स्वाध्याय से इष्ट देवता की कृपा होती है, मगर भाष्यकार इससे भी आगे बढ़कर कहते हैं कि स्वाध्याय करने वाले मनुष्य का दर्शन करने के लिए देवता भी दौड़ आते हैं और इस बात का ध्यान रखते हैं कि स्वाध्याय करने वाले की भावना किस प्रकार पूर्ण हो।

अनुसार वीतराग द्वारा कथित शास्त्र का आगम का पठन-पाठन करना स्वाध्याय है। दूसरे द्वारा रचे ग्रंथों या शास्त्रों का पठन-पाठन करने से कभी-कभी भ्रम में पड़ जाने का अंदेशा रहता है, मगर वीतराग कथित आगम के पठन-पाठन से भ्रम में पडने का कोई भय नहीं रहता। जिनवाणी का अध्ययन करने से आत्मा का कल्याण ही होता है, अकल्याण नहीं हो सकता।

शास्त्रकारों ने स्वाध्याय के पांच भेद बतलाये हैं—(१) वाचना (२) पृच्छना (३) पर्यटना (४) अनुप्रेक्षा और (५) धर्मकथा। स्वाध्याय के यह पाँच भेद हैं। सूत्र जैसा है उसे वैसा ही पढ़ना वाचना है, परन्तु यह सूत्रवाचना गुरुमुख से ही लेनी चाहिए। गुरुमुख से वाचना न ली जाय तो प्रायश्चित्त आता है। इस प्रकार गुरुमुख से ली जाने वाली वाचना स्वाध्याय का पहला भेद है।

स्वाध्याय का दूसरा भेद पृच्छना है। गुरुमुख से जो वाचना ली गई है, उसके विषय में पूछताछ करना पृच्छना है। जैसे जानवर देखे-परखे विना घास खा जाता है, उसी प्रकार देखे-परखे विना सूत्र नहीं वांचना चाहिए। उसके विषय में हृदय में तर्क-वितर्क अथवा पूछताछ करना चाहिए। ऐसा करने से किसी को किसी प्रकार की शंका ही नहीं रहेगी। हृदय में उत्पन्न हुई शंका को शंका के ही रूप में नहीं रहने देना चाहिए, बरन् उसे दूर करने के लिए पूछताछ अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार की पूछताछ करने को ही पृच्छना कहते हैं।

जो वाचना गुरुमुख से ली गई है और जिसके विषय मे पृच्छना करके हृदय की शंका दूर की गई है, उस सूत्रवाचना को विस्मृत न होने देने के लिए परिवर्तना करते रहना चाहिए। सूत्रवाचना का परावर्त्तन करना स्वाध्याय का तीसरा भेद है।

दर्पण के ऊपर का मैल इसीलिए साफ किया जाता है कि मुँह भलीभाँति दिखलाई दे सके। यह माना जाता है कि जिस दर्पण में मुँह ठीकठीक दिखाई पड़े वह दर्पण साफ है। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि जिस स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो, वही सच्चा स्वाध्याय है।

प्राचीन काल में विद्यार्थी जब विद्याध्ययन समाप्त करके गुरुकुल से विदाई लेते थे, तब गुरु उन्हें यह शिक्षा देते थे—'हे शिष्यो! स्वाध्याय करने में प्रमाद मत करना। स्वाध्याय द्वारा जो वस्तु हितकारी प्रतीत हो उसे स्वीकार करना और जो अहितकर प्रतीत हो उसे त्याग देना। स्वाध्याय से धर्म का भी स्वरूप विदित होता है और अधर्म का भी। इन दोनों में से धर्म को स्वीकार करना और पाप का परित्याग करना चाहिए। दीपक के प्रकाश में अच्छी वस्तु भी देखी जा सकती है और साँप-बिच्छू वगैरह भी देखे जा सकते हैं। मगर अच्छी वस्तु देखकर ग्रहण की जाती है और खराब वस्तु देखकर छोड़ दी जाती है। दीपक के प्रकाश से अगर साँप दिखाई देता है तो लोग साँप से दूर भाग जाते हैं और यदि कोई अच्छी चीज़ नज़र आती है तो उसे ग्रहण कर लेते हैं। इसी प्रकार स्वाध्याय से अच्छी बातें भी मालूम होती हैं और बुरी बातें भी जानने में आती हैं। इन दोनों अच्छी-बुरी बातों में से, हे शिष्यो! अच्छी बातें ग्रहण करो और बुरी बातें त्याग दो।'

आप भी व्याख्यान सुनते हैं; मगर व्याख्यान सुनकर जो वस्तु लाभप्रद प्रतीत हो उसे अपनाने में ही व्याख्यान सुनने की सार्थकता है और तभी व्याख्यानश्रवण स्वाध्याय रूप कहा जा सकता है। व्याख्यान सुनकर वाह वाह करने में ही रह गये और जीवन में कुछ भी न अपनाया तो व्याख्यान सुनने से क्या लाभ है?

स्वाध्याय की विधि क्या है ? और किस उद्देश्य से स्वाध्याय करना चाहिए ? किसान खेत में बीज फैंकता है सो केवल फैंक देने के उद्देश्य से ही वह नहीं फैंकता है। एक दाने से अनेक दाने उत्पन्न करने के लिए वह बीज फैंकता है। स्वाध्याय करने वाले को भी यह बात सदैव स्मरण में रखनी चाहिए कि मैं स्वाध्याय करके हृदय-क्षेत्र में जिस बीज का आरोपण करता हूँ, वह विशेष रूप फल की प्राप्ति के लिए कर रहा हूँ। अतएव मैं जैसे-तैसे बोलते स्वाध्याय न करूँ वरन् स्वाध्याय के द्वारा जो बात ग्रहण की गई है, उसी के अनुसार व्यवहार करूँ। इस प्रकार सक्रिय स्वाध्याय करने से ही स्वाध्याय के फल की प्राप्ति होती है। स्वाध्याय का फल ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होना है।

स्वाध्याय के सम्बन्ध में एक उदाहरण और दिया जाता है। जैसे फल की प्राप्ति के लिए ही वृक्ष की जड़ें, सींची जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म को नष्ट करने रूप फल प्राप्त करने के लिए ही स्वाध्याय किया जाना है। अतएव स्वाध्याय करने में सदैव यह ध्यान रखना चाहिए कि मैं वृक्ष को सींच तो रहा हूँ, मगर कहीं ऐसा न हो कि मैं फल से वंचित रह जाऊँ ! मैं दूसरों को सुनाने के लिए स्वाध्याय करूँ और लोग भी मेरी प्रशंसा करें, मगर मैं जैसा का वैसा ही न रह जाऊँ। मुझसे ऐसा न हो कि मूल को सींचने पर भी मुझे फल प्राप्त न हो। मुझे इस बात का ध्यान होना चाहिए कि मैं शास्त्र का स्वाध्याय करके जिस धर्म रूपी कल्पवृक्ष का सिंचन कर रहा हूँ, उसका फल ज्ञानावरण कर्म का क्षय होना है, अतएव वह फल मुझे प्राप्त करना है। इस बात पर लक्ष्य रखते हुए ही मुझे स्वाध्याय करना चाहिए।

और उनके दर्शन करने आये। रघुनाथजी महाराज ने सिंघीजी से पूछा—आप कुछ धर्मध्यान करते हैं या नहीं? सिंघीजी ने उत्तर दिया—'महाराज! पहले बहुत धर्मध्यान किया है, उसके फलस्वरूप सिंघी सरीखे उत्तम कुल में जन्म पाया है, पैर में सोने का कड़ा पहरने को मिला है, जागीर मिली है, हवेली है और अच्छे कुल की कन्याएँ भी प्राप्त हुई हैं। ऐसी स्थिति में पहले किये पुण्य का फल भोगें या अब नया करने बैठें!'

तपस्वीजी ने उत्तर दिया—सिंघीजी, यह सब तो ठीक है कि आपने पहले जो धर्मध्यान किया है, उसका फल आप भोग रहे हैं। मगर यदि भविष्य के लिए धर्मध्यान न किया और मृत्यु के पश्चात् कुत्ते का जन्म धारण करना पड़ा तो आपको उस हवेली मे कौन घुसने देगा?

सिंघीजी—महाराज! ऐसी अवस्था में तो हवेली में कोई नहीं घुसने देगा?

तपस्वीजी—इसीलिए हम कहते हैं, भविष्य के लिए धर्म-ध्यान करो।

मैं भी आपसे यही कहता हूँ कि आपको उत्तम मनुष्यजन्म, उत्तम जैनधर्म, उत्तम धर्मक्षेत्र आदि का सुयोग मिला है। इस अनमोल अवसर का लाभ उठाकर आत्मकल्याण साधो। इसी में कल्याण है। दूसरे आत्मकल्याण की साधना करें या न करें, उस पर ध्यान न देते हुए आप अपना कल्याण करने में प्रयत्नशील रहें।

कहने का आशय यह है कि स्वाध्याय का फल ज्ञानावरणीय कर्म का नाश करना है। कोई कह सकता है कि हमें शास्त्र वांचना नहीं आता, ऐसी स्थिति में शास्त्र का स्वाध्याय किस प्रकार करें? ऐसा कहने वाले लोगों से यही कहा जा सकता है कि अगर

कल्पना कीजिए, आपके पूर्वजों ने आपके घर में सम्पत्ति गाड़ रक्खी है। यह बात आपको मालूम है, लेकिन आवश्यकता के अवसर पर भी वह आपके हाथ नहीं लगती। इतने में कोई सिद्ध योगी आकर आपकी सम्पत्ति आपको बतला दे तो आपको कितनी प्रसन्नता होगी? इसी प्रकार इस शरीर में अनन्त गुणों वाला आत्मा विराजमान है। अगर कोई इस आत्मा का दर्शन आपको करा दे तो क्या आपको प्रसन्नता नहीं होगी? स्वाध्याय करने से ज्ञानावरण कर्म नष्ट होता है और ज्ञानावरण के नाश से आत्मा का दर्शन हो सकता है। अतएव स्वाध्याय द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म का नाश करके आत्मा का दर्शन करो। ज्ञानी जन कहते हैं—आत्मा अनन्त गुण वाला और अनन्त शक्ति से सम्पन्न है। आत्मा के गुण इस मानव शरीर द्वारा ही प्रकट किये जा सकते हैं। आपको पुण्य-योग से मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है, इसलिए आत्मा के उन गुणों को एवं शक्तियों को प्रकट करने का प्रयत्न करो। केवल शरीर देखकर ही न रह जाओ। सुना है, अमेरिका में, मनुष्य की आकृति की मछली भी होती है, मगर आप मनुष्य हैं, मछली नहीं हैं। यह बात तो तभी प्रतीत होगी जब आप अपने जीवन में मनुष्यता प्रकट करेंगे। जीवन में मनुष्यता प्रकट करने के लिए और अपनी मनुष्यता सिद्ध करने के लिए आपको विचारना चाहिए कि—हे आत्मन्! तुझे यह मानव शरीर मिला है और ऐसे धर्मगुरुओं का सुयोग भी प्राप्त हो गया है। फिर भी अगर अपनी शक्ति को प्रकट नहीं करेगा तो कब करेगा? इस प्रकार विचार कर स्वाध्याय द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म नष्ट करके आत्मा का स्वरूप पहचानो और आत्मशक्ति प्रकट करो।

तपस्वी मुनि श्री रघुनाथजी महाराज फक्कड़ साधु थे। वह एक बार जोधपुर में थे, तब जोधपुर के सिंघीजी ने उनकी प्रशंसा सुनी

२३

उन्नीसवाँ बोल।

वाचना

स्वाध्याय भी परमात्मा की प्रार्थना करने का एक साधन है। पिछले प्रकरण में स्वाध्याय के पाँच भेद बतलाये गये हैं। अब शास्त्रकार स्वाध्याय के प्रत्येक भेद पर विचार करते हैं। स्वाध्याय से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय पर समुच्चय रूप में विचार किया जा चुका है। परन्तु इस प्रकार सामान्य रूप से कही हुई बात कभी-कभी साधारण लोगों की समझ में नहीं आती। इसी कारण स्वाध्याय के प्रत्येक भेद के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया जाता है। मनुष्य कहने से सभी मनुष्यों का समावेश हो जाता है, फिर चाहे वह राजा हो, रंक हो, गरीब या अमीर हो, ब्राह्मण हो या शूद्र हो। लेकिन साधारण लोग मनुष्य कहने मात्र से मनुष्य के सब भेदों को नहीं समझ सकते। उन्हें मनुष्य के भेद समझाने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद स्पष्ट करके समझाने पड़ते हैं। इसी प्रकार स्वाध्याय के सम्बन्ध में समुच्चय रूप से विवेचन किया गया है, मगर वह विवेचन साधारण लोग नहीं समझ सकते। इस विचार

आपको शास्त्र पढ़ना नहीं आता तो कम से॰ कम णमोकारमन्त्र तो आप भी जानते हैं ? आप उसका जाप और आवर्त्तन वगैरह करें। णमोकार मंत्र का आवर्त्तन करना भी स्वाध्याय ही है। अन्य लोगों के कथनानुसार वेदाध्ययन या ओंकार का जाप करना स्वाध्याय है। इसी प्रकार आप यह समझें कि द्वादशांग रूप जिनवाणी का पठन-पाठन करना या णमोकारमंत्र का जाप करना भी स्वाध्याय है। अगर आप शास्त्र का स्वाध्याय नही कर सकते तो णमोकार मंत्र का जाप रूप स्वाध्याय करें। इससे भी कल्याण होगा।

शास्त्र में स्वाध्याय नन्दन वन के समान बतलाया गया है। जो पुरुष स्वाध्याय द्वारा नंदन वन सरीखा आनन्द लेता होगा वह दूसरी झंझटों में नहीं पड़ेगा। मनुष्य जब व्यग्र हो जाता है तब व्यग्रता दूर करने के लिए बाग का आश्रय लेता है। इसी प्रकार संसार के प्रपंचों से घबराने वाला स्वाध्याय का ही शरण लेगा और फिर दूसरे प्रपंचो में नही पड़ेगा। अगर आप व्यर्थ के प्रपंचों में पड़ना छोड़ स्वाध्याय का आनन्द लें तो आपको मालूम हो कि स्वाध्याय में कैसा आनन्द है। पुरुषों की अपेक्षा भी बहिनों को इस ओर अधिक ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उनकी आदत व्यर्थ के प्रपंचो में पड़ने की ज्यादा होती है, ऐसा देखा जाता है। बहिनें अगर ऐसे प्रपचो मे पड़ना छोड़ दें तो वे पुरुषों का भी सुधार कर सकती हैं। अतएव बहिनें सांसारिक प्रपंचों में न पड़कर परमात्मा के भजन रूप स्वाध्याय से आनंदित रहें तो वे अपना और पराया अकल्याण रोक सकती हैं और कल्याणमार्ग में प्रवृत्त हो सकती हैं।

कहते हैं कि गुरु उपदेशक या प्रयोजक होकर शिष्य को शास्त्र पढ़ाता है। यही शास्त्र पढ़ाने की क्रिया वाचना कहलाती है।

वाचना लेने वाला शिष्य तो सुपात्र होना ही चाहिए, लेकिन वाचना देने वाले गुरु में क्या गुण होने चाहिए, यह विचार लेना आवश्यक है। वाचना देने वाला अच्छा हो तो वाचना लेने वाले और देने वाले—दोनों को ही लाभ होता है। भगवान् से वाचना के विषय में यह प्रश्न किया गया है कि—हे भगवन्! वाचना देने वाले को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने पहली बात यह कही है कि वाचना देने वाले के कर्मों की निर्जरा होती है।

सामान्यरूप से तो निर्जरा, मन, वचन और काय—इन तीनों से होती है परन्तु यहाँ मन द्वारा निर्जरा होने की प्रधानता जान पड़ती है, क्योंकि वाचना देने में मन को एकाग्र रखना पड़ता है। कहा भी है:—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात्—मन ही मनुष्यों के बंध और मोक्ष का कारण है।

इस प्रकार मन को बंध और मोक्ष का कारण बतला कर वाचना देने वाले को यह सूचित कर दिया है कि वाचना देने वाले को ऐसा नहीं मानना चाहिए कि मैं शिष्य को वाचना दे रहा हूँ, या मैं शिष्य को पढ़ा रहा हूँ, वरन् ऐसा समझना चाहिए कि मैं सूत्र की वाचना देकर अपने कर्मों की निर्जरा कर रहा हूँ। ऐसा मानकर शिष्य को सूत्र की वाचना देने से वाचना देने वाले को अत्यन्त आनन्द होता है; यही नहीं उसमें कायरता नहीं आती और साथ ही उसका उत्साह भी भंग नहीं होता। इसका कारण यह है कि इस

से स्वाध्याय के भेद करके प्रत्येक भेद के विषय में भगवान से प्रश्न किया गया है। स्वाध्याय का पहला भेद वाचना है। अतएव सर्वप्रथम वाचना के विषय में भगवान् से यह प्रश्न किया गया है—

मूलपाठ

प्रश्न—वायणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—वायणयाए णं निज्जरं जणयइ, सुअस्स अणासायणाए (अणुसज्जणाए) वट्टइ, सुअस्स य अणासायणाए (अणुसज्जणाए) वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलंबइ, तित्थमवलंबमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे हवइ।

शब्दार्थ

प्रश्न—हे भगवन ! वाचना से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—शास्त्र की वाचना से कर्म की निर्जरा होती है। सूत्रप्रेम होने से ज्ञान में वृद्धि होती है और ऐसे सूत्रप्रेम से तीर्थङ्करों के धर्म का अवलम्बन मिलता है। तीर्थङ्करों के धर्म का अवलम्बन मिलने से कर्म की महान् निर्जरा होती है और निष्कर्म अवस्था प्राप्त होती है।

व्याख्यान

वाचना के विषय में विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना चाहिए कि वाचना का अर्थ क्या है ? वाचना लेने के योग्य शिष्य को गुरु सिद्धान्त का जो वाचन कराता है, उसे वाचना कहते हैं। वाचना का अर्थ सुगम करने के लिए टीकाकार

और यह समझे कि शिष्य मेरे कर्मों की निर्जरा करने का साधन है, अतः वह मेरा उलटा उपकारी है, तो गुरु द्वारा दी हुई वाचना शिष्य के हृदय में स्थान बनाये बिना नहीं रह सकती। ऐसा समझकर शिष्य को वाचना देने वाला महात्मा धन्यवाद का पात्र है।

भगवान् ने कहा है—वाचना देने से एक तो कर्मों की निर्जरा होती है और साथ ही साथ सूत्र की अनासातना और अनुसृजना होती है अर्थात् सूत्र की परम्परा जारी रहती है। सूत्र का ज्ञाता अगर दूसरे को सूत्र का ज्ञान न दे तो सूत्रज्ञान विच्छिन्न हो जाय। इसके विरुद्ध एक-दूसरे को सूत्र का ज्ञान देने से सूत्र की परम्परा चालू रहती है। जो पुरुष सूत्र का ज्ञाता होने पर भी दूसरे को सूत्र का ज्ञान नहीं देता वह सूत्र की आसातना करता है, अतएव दूसरे को सूत्रवाचना देते रहने से सूत्र की अनासातना भी होती है और वाचना देने वाले के द्वारा सूत्र की सृजना भी होती है। किसान बीज बोने के बदले अगर बीज को भी खा जाय तो अन्न की परम्परा आगे तक कैसे चल सकती है? इसी प्रकार सूत्र का जानकार अगर दूसरे को सूत्रज्ञान न दे तो सूत्रज्ञान की परम्परा किस प्रकार चल सकती है? जैसे किसान अन्न में से बीज अलग रख छोड़ता है और शेष अन्न खाता है, उसी प्रकार स्वयं सूत्र का लाभ लेकर दूसरे को भी वाचना देनी चाहिए, जिससे कि सूत्र की परम्परा बराबर चालू बनी रहे।

इसके अतिरिक्त भगवान् कहते हैं कि सूत्रवाचना देकर सूत्र की अनासातना और सृजना करने वाला तीर्थधर्म का पालन करता है। यहाँ तीर्थधर्म का मतलब गणधर के आचार से है। सूत्र का कथन तीर्थंकर करते हैं मगर तदनुसार सूत्र की रचना करने वाले और उसकी परम्परा चलाने वाले गणधर हैं। जिस प्रकार गणधर

स्थिति में सूत्रवाचना देने के कार्य को वह दूसरे का कार्य नहीं समझेगा बल्कि अपना ही कार्य समझेगा और अपने, अपने लाभ के कार्य में जैसा आनन्द और उत्साह रहता है वैसा आनन्द और उत्साह दूसरे के कार्य में नहीं रहता। उदाहरणार्थ—एक काम आपका नौकर करता है और दूसरा काम आपका पुत्र करता है। इन दोनों में से आपके पुत्र के मन में काम करते समय जैसा उत्साह होगा, वैसा उत्साह नौकर के मन में नहीं होगा, यह स्वाभाविक है। ऐसा होने का कारण भावना की भिन्नता है। नौकर की भावना तो यही होती है कि यह पराया काम है। पुत्र उसे अपना ही काम समझता है। इस प्रकार भावना में अन्तर होने से उत्साह में भी अन्तर पड़ जाता है। उत्साह होने से कार्य अच्छा होता है। उत्साह के अभाव में वैसा नहीं होता।

कहने का आशय यह है कि जैसे दूसरों के कामों को अपने ही काम मानने से उन्हें करने में उत्साह अधिक रहता है, उसी प्रकार वाचना देने के कार्य को अपना ही समझने से आत्मा में उत्साह आता है। इसी उद्देश्य से यह कहा गया है कि वाचना देने का कार्य अपना ही समझना चाहिए।

सद्गुरु जैसी शिक्षा दे सकता है वैसी शिक्षा भाड़े का शिक्षक नहीं दे सकता। सद्गुरु की शिक्षा हृदय में जैसी पैठ जाती है, भाड़े के शिक्षक की वैसी नहीं पैठ सकती। वैज्ञानिकों का कथन है कि छोटी उम्र के बालकों के हृदय में माता-पिता की शिक्षा के जैसे संस्कार पड़ते हैं, वैसे संस्कार बड़े होने पर नहीं पड़ सकते। अगर माता-पिता सुसंस्कारी हो तो बालकों के अन्तःकरण में शिक्षा के अच्छे संस्कार अंकित कर सकते हैं। इसी प्रकार गुरु अगर सुसंस्कारी हो और वाचना देने के कार्य को अपना ही कार्य माने

उसका परिणाम भयङ्कर हो, यह स्वाभाविक ही है। अतएव जिस प्रकार ड्राइवर मोटर चलाते समय सावधान रहता है, उसी प्रकार सूत्र की वाचना देने वाले गुरु को भी वाचना देते समय पूरी-पूरी सावधानी रखनी चाहिए। अगर कुशल ड्राइवर की तरह वाचना देने वाला गुरु कुशल और संस्कारी हो तो शास्त्ररूपी मोटर ठीक चल सकती है।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार ड्राइवर मोटर चलाने में सहायक कहा जा सकता है, उसी प्रकार सूत्र की वाचना देने वाला भी गणधर के धर्म का अवलम्बन करने वाला है अर्थात् सूत्र की वाचना देने वाला भी तीर्थधर्म का अवलम्बन करता है।

इससे आगे भगवान् कहते हैं—तीर्थधर्म का अवलम्बन लेने वाले को महान् निर्जरा होती है। दूसरे महान् तप से भी जो निर्जरा नहीं हो सकती, वह निर्जरा स्वाध्याय अर्थात् वाचनारूप तप से होती है। वाचना देना और स्वाध्याय करना भी एक प्रकार का तप है। महान् निर्जरा करने वाला मोक्ष प्राप्त करता है। महान् निर्जरा मोक्षप्राप्ति का एक मार्ग है। वाचना देने वाले को, वाचना देते समय सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मैं सूत्र की वाचना देकर महान् निर्जरा का कार्य कर रहा हूँ और मोक्षप्राप्ति का कार्य कर रहा हूँ। ऐसा समझकर वाचना देने के कार्य को अपना ही कार्य मानना चाहिए।

वाचना देते समय कितनी सावधानी रखनी चाहिए और क्या समझना चाहिए, यह बात पहले कही जा चुकी है। मगर वाचना लेने वाले को वाचना लेते समय कितनी सावधानी रखनी उचित है और उस समय उसका कर्त्तव्य क्या है, इस सम्बन्ध में कहा गया है:—

सूत्रों की परम्परा चलाते हैं उसी प्रकार वाचना देने वाला भी सूत्रों की परम्परा चालू रखता है। इस कारण वह गणधर के आचार का अवलम्बन करता है—गणधर का कार्य करता है।

गणधरों ने सूत्र की रचना की। अगर वह सूत्र अपने ही पास रख छोड़ते और दूसरों को वाचना न देते तो क्या आज सूत्र विद्यमान रहते? मगर गणधर कितने उदार थे! उन्होंने सूत्रों की रचना की, अपने पास नहीं रख छोड़ा, अपितु शिष्यों को उनकी वाचना दी। गणधरों द्वारा चलाई हुई वाचना की पद्धति का पालन आचार्य भी करते रहे और इसी के फलस्वरूप आज हमारे लिए सूत्र उपलब्ध हैं। अगर आगे इस पद्धति का पालन न किया जाय तो सूत्र का उच्छेद हो जायगा। अतएव अपने पास जो सूत्र हैं उनकी वाचना योग्य शिष्य को देनी चाहिए। सूत्र की वाचना देना भी तीर्थ-धर्म है। अर्थात् वाचना देना गणधर के धर्म का अवलंबन करना है।

कल्पना कीजिए, एक नई मोटर तैयार कराई गई है, मगर उसे चलाने वाला कोई ड्राइवर नहीं है। अगर कोई मोटर न चला सकने वाला उसे चलाने का प्रयत्न करेगा तो सम्भव है वह किसी गड्ढे में गिरा देगा। इसी कारण मोटर चलाना न जानने वाले को सरकार मोटर चलाने की आज्ञा नहीं देती। मोटर का तो दृष्टान्त ही समझिए। मेरी मान्यता तो यह है कि मोटर चलने से लाभ के बदले हानि ही हुई है। मगर इस दृष्टान्त द्वारा मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि जैसे ड्राइवर होने पर ही मोटर का उपयोग हो सकता है। ड्राइवर के अभाव में मोटर बेकार पड़ी रहती है। इसी प्रकार शास्त्र-रूपी मोटर चलाने वाला अर्थात् वाचना देने वाला कुशल और संस्कारी गुरु न हो तो शास्त्ररूपी मोटर गड्ढे में गिर जाय और

है। इन दोनों के शास्त्र-श्रवण में कितना अन्तर है, यह बात बकरी और भैंस के पानी पीने के उदाहरण से समझी जा सकती है। बकरी भी पानी पीती है और भैंस भी पीती है। मगर दोनों के पीने में कितना अन्तर है ? भैंस निर्मल जल को भी गँदला करके पीती है, जब कि बकरी निर्मल जल ही पीती है। वह गँदला जल नहीं पीती। शास्त्र श्रवण करने वाले भी दो प्रकार के हैं। कुछ लोग बकरी के समान निर्मल शास्त्रश्रवण का रसपान करते हैं और कुछ लोग भैंस की भाँति शास्त्रश्रवण को मलीन करके रसपान करते हैं। जो लोग सावधानी के साथ शास्त्र का श्रवण करते हैं, वे महान निर्जरा का कार्य करते हैं। अतएव शास्त्र सुनने में पूरी-पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

पर्यस्तिकामवष्टम्भं, तथा पादप्रसारणम् ।
वर्जयेद्विकथां हास्यमधीयन् गुरुसन्निधौ ॥

वाचना देने वाले गुरु के सन्निकट वाचना लेने वाले शिष्य को कैसी सावधानी रखनी चाहिए, यह बात इस गाथा में बतलाई गई है। इसमें कहा है—वाचना देने वाले गुरु के समक्ष शिष्य को अकड़कर या हाथ बध करके नहीं बैठना चाहिए, पैर फैलाकर नहीं बैठना चाहिए और विकथा तथा हँसी-मज़ाक नहीं करना चाहिए। वाचना लेने वाला शिष्य इन सब अवगुणों का परित्याग कर दे।

अपने यहाँ वाचना लेने-देने में अत्यन्त अन्तर आ गया है। जैसे—आजकल कितनेक लोग ऐसा मानते हैं कि सिद्धान्त की वाचना देते समय पास में घी का दीपक होना ही चाहिए। मगर जब सिद्धान्त से भाव-प्रकाश लेना है तो वहाँ द्रव्य-प्रकाश की आवश्यकता ही क्या है? इसके अतिरिक्त दीपक जलाना सावद्य है और शास्त्र निरवद्य है। ऐसी स्थिति में निरवद्य शास्त्र की वाचना लेते समय सावद्य दीपक की क्या आवश्यकता है? शास्त्र भावरूप वस्तु है। उसकी भावपूजा ही हो सकती है। उसकी द्रव्यपूजा की आवश्यकता नहीं है।

अब यह भी विचारना चाहिए कि शास्त्र सुनते समय किस प्रकार की सावधानी रखनी चाहिए? प्रायः देखा जाता है कि शास्त्र की वाचना के समय कुछ लोग दोनों हाथ बांध करके ऐसे बैठ रहते हैं, मानो शास्त्र श्रवण करना कोई काम ही नहीं है! ऐसे लोगों के हृदय में शास्त्र का रहस्य कैसे उतर सकता है? एक आदमी साव-धान होकर शास्त्र सुनता है और दूसरा बेदरकारी के साथ सुनता

होता है। किन्तु जैनशास्त्र में किसी प्रकार की पोल या गड़बड़ नहीं है। यही बतलाने के लिए कहा गया है कि, जिस सूत्र की वाचना ली गई है, उसके विषय में प्रतिपृच्छना अर्थात् पूछताछ या विचार-विनिमय करना चाहिए।

कोई मनुष्य किसी को खोटा सोना दे तो वह लेने वाले से यही कहेगा कि यह सोना किसी को बतलाना नहीं, चुपचाप घर ही ले जाना। हाँ, सच्चा सोना देने वाला ऐसा नहीं कहेगा। वह कहेगा यह सोना सच्चा है या नहीं, इस बात की जाँच चाहे जहाँ कर लेना। इसी प्रकार अगर जैनसिद्धान्त में कहीं पोल या गड़बड़ होती तो विचारविनिमय या पूछताछ करने की बात नहीं कही होती। मगर जैनसिद्धान्त में किसी प्रकार की पोल या गड़बड़ नहीं है, इसीलिए कहा गया है कि-ली हुई सूत्रवाचना में जो कुछ पूछना हो वह पूछो। इस प्रकार प्रतिपृच्छना करने से अत्यन्त लाभ होता है, यह भी बतलाया गया है। जो सूत्रवाचना ली गई है उसके विषय में पूछताछ करने से क्या लाभ होता है, इस सम्बन्ध में यह प्रश्न किया गया है-

मूलपाठ

प्रश्न-पडिपुच्छणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर-पडिपुच्छणयाए णं सुत्तत्थतदुभयाइं विसोहेइ, कंखामोहणिज्जं कम्मं वुच्छिदइ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! प्रतिपृच्छना से अर्थात् शास्त्रचर्चा से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—प्रतिपृच्छना से सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ का विशोधन होता और इससे जीव कांक्षमोहनीय कर्म को छेद डालता है।

२४

बीसवाँ बोल ।

प्रतिपृच्छना



आत्मा के ऊपर अनादि काल से जो आवरण चढ़े हैं, उन्हें दूर करने का एक उपाय स्वाध्याय भी है। स्वाध्याय के पांच भेदों में से वाचना के विषय में कहा जा चुका है। वाचना के पश्चात प्रति-पृच्छना सम्बन्धी प्रश्न उपस्थित होता है। आगम का जो पठन-पाठन किया गया हो, उसे उसी रूप में न रखते हुए उसके सम्बंन्ध मे विचारविनिमय करना और हृदय मे उठी हुई शंका के विषय में पूछताछ करना प्रतिपृच्छना है। प्रतिपृच्छना के विषय मे प्रश्न करके यह सूचना दी गई है कि जिस कथन से किसी प्रकार की गड़बड़ होती है अथवा जो अपने कथन का पूर्ण रहस्य नहीं जानता उसे सदैव यह भय बना रहता है कि अगर मेरे कथन के विषय में कोई व्यक्ति कोई प्रश्न करेगा तो मैं क्या उत्तर दूँगा ? इस तरह जिसके कथन मे किसी प्रकार की पोल या गड़बड़ी होती है, उसके कथन के विषय मे अगर कोई पूछताछ की जाय तो उसे भय

हो मगर धन न हो तो तिजोरी किस काम की ? इसी प्रकार धन हो पर तिजोरी न हो तो धन की रक्षा किस प्रकार हो सकती है ? ठीक इसी तरह अर्थ के अभाव में सूत्र किस काम का ? और सूत्र न हो तो अर्थ किस काम का ? सूत्र, अर्थ की और अर्थ, सूत्र की रक्षा करता है। सूत्र से ही अर्थ की रक्षा होती है और अर्थ होने के कारण ही सूत्र का महत्व है। इस प्रकार सूत्र और अर्थ दोनों की आवश्यकता है।

शरीर हो मगर आत्मा उसमें न हो तो शरीर किस काम का ? क्या मृत शरीर को भी कोई औषध देता है ? इसी प्रकार शरीररहित आत्मा को भी दवाई दी जा सकती है ? संसारी जीव का आधार शरीर है और शरीर की स्थिति जीव पर टिकी है। जिस प्रकार जीव और शरीर दोनों की आवश्यकता है, उसी प्रकार सूत्र और अर्थ की भी आवश्यकता है। जैसे शरीर का महत्व उसमें रहने वाले जीव के कारण ही है, उसी प्रकार सूत्र का महत्व भी अर्थ होने के ही कारण है। अर्थ के अभाव में सूत्र व्यर्थ है। भगवान् ने कहा है—प्रतिपृच्छना करने से सूत्र और उसके अर्थ की विशुद्धि होती है।

धन की रक्षा के लिए तिजोरी की मजबूती और जीव को आश्रय देने के लिए शरीर की स्वस्थता होना आवश्यक समझा जाता है। इसी तरह शास्त्र के कथनानुसार सूत्र और अर्थ के विषय में प्रतिपृच्छना करके उसे अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। इसके सिवाय सूत्र और अर्थ हीनाक्षर आदि दोषों से रहित होने चाहिए। वास्तविक सूत्र हीनाक्षर या निरर्थक शब्दों वाले नहीं होते। हीनाक्षर या निरर्थक शब्द होना सूत्र का दोष है। सूत्र का प्रत्येक अक्षर सार्थक और शुद्ध होना चाहिए।

व्याख्यान

गुरु के सन्निकट ली हुई शास्त्रवाचना के सम्बन्ध में गुरु से बारम्बार पूछताछ करना या शास्त्रचर्चा अथवा विचारविनिमय करना प्रतिपृच्छना है। शास्त्र और गुरु का कहना है कि ली हुई शास्त्र-वाचना के सम्बन्ध मे पूछताछ करनी चाहिए। इस प्रकार को प्रति-पृच्छना या शास्त्रचर्चा करने से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—प्रतिपृच्छना करने से सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ की विशुद्धि होती है। जो कोई जिज्ञासु प्रतिपृच्छना करता है वह सूत्र और उसके अर्थ के विषय में थोड़ा जानकार होता ही है। अगर वह एकदम अनजान हो तो सूत्र या उसके अर्थ के सम्बन्ध में क्या चर्चा करेगा! अतः अगर कोई सूत्र के विषय में या अर्थ के विषय मे कुछ-कुछ जानकार हो तभी वह प्रतिपृच्छना कर सकता है। गुरु से बार-बार उस विषय में पूछताछ करने से, वह जो थोड़ा-सा जानता है, उसकी विशुद्धि होती है।

अर्थहीन सूत्र और सूत्रहीन अर्थ एक प्रकार से व्यर्थ माना जाता है। सूत्र का महत्व अर्थ से है और अर्थ का महत्त्व सूत्र से है। सूत्र उच्चारण रूप होता है और अर्थ उस उच्चारण रूप सूत्र में रही हुई विशेष वस्तु को प्रकट करता है अर्थात् सूत्र का महत्व प्रकट करता है।

सूत्र किसे कहते हैं? इस विषय में टीकाकार कहते हैं—जिन थोड़े अक्षरों में बहुत अर्थगांभीर्य समाया हो, उन अर्थगांभीर्य वाले थोड़े अक्षरों को सूत्र कहते हैं। सूत्र, अर्थ की रक्षा करने के लिए ही होता है। प्रत्येक वस्तु पात्र में ही टिक सकती है। अगर साधन या पात्र न हो तो वस्तु का टिकाव नहीं हो सकता। तिजोरी

किसी भी वस्तु में संदेह रखने और निश्चय न कर लेने से विचार में ऐसा अन्तर पड़ जाता है। सभी विद्याओं में यह बात लागू पड़ती है। पढ़े और गुने में कितना अन्तर होता है, यह तो आप जानते ही हैं। कहावत प्रसिद्ध है—'पढ़ा है पर गुना नहो।' सूत्र की वाचना पढ़ने और गुनने के विषय में भी ऐसा ही अन्तर पड़ जाता है। एक आदमी ने सूत्र तो पढ़ा है किन्तु सूत्र के सम्बन्ध में उत्पन्न हुए संशय का उसने निवारण नहीं किया है और दूसरे मनुष्य ने सूत्रवाचना लेकर अपना संशय निवारण कर लिया है। एक मनुष्य सूत्र वाचकर संदिग्ध रहता है और दूसरा सूत्र को वांचकर सूत्र और अर्थ के विषय में पूछताछ करके संदेह-रहित हो जाता है। इस प्रकार दोनो के बीच बहुत अन्तर है।

दूसरे लोग अपने सिद्धान्त की बात कदाचित् चुपके से बतलाते हों पर जैनशास्त्र कहता है कि सूत्रसिद्धान्त की बात चुपके-चुपके बताना उचित नहीं। अतएव आपको जो कुछ भी बतलाया जाय उसके विषय में वार-बार पूछताछ करो और जो कोई शंका हो उसका समाधान प्राप्त करो। बहुत बार अनुचित शंकाएँ भी उठती हैं लेकिन शंका उत्पन्न हो जाने पर भी शंका में ही पडा रहना ठीक नहीं है। शंकाएँ निवारण करने का प्रयत्न करना चाहिए अतएव सूत्र की जो वाचना ली हो उसके सम्बन्ध में वार-वार पूछताछ करनी चाहिए। कोई भी बात किसी विशेषज्ञ से ही पूछी जाती है। इसलिए अपने से अधिक जानकार के कथन पर विश्वास रखकर उससे शंका का समाधान प्राप्त करना चाहिए। विशेषज्ञ के कथन पर विश्वास रखा ही जाता है। शरीर के विषय में आप किसी डाक्टर से ही प्रश्न करेंगे। अगर डाक्टर शरीर को रोगी कहेगा तो उसके कथन पर आप विश्वास करेंगे और उसकी सलाह मानेंगे।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार बारम्बार शरीर
ी सार-सँभाल की जाती है, उसी प्रकार सूत्रवाचना के विषय में
ी बार-बार पूछताछ करना चाहिए और जिस सूत्र की वाचना ली
ई हो उसकी भी सँभाल रखनी चाहिए। सूत्र की भलीभाँति सँभाल
खने से और सूत्र के सम्बन्ध में बार बार पृच्छना करने से सूत्र और
र्थ की विशुद्धि होती है और साथ ही साथ कांक्षामोहनीय कर्म का
ाश भी होता है।

यहाँ कांक्षा का अर्थ है-संदेह। 'यह तत्व ऐसा है या नहीं'
थवा 'यह सत्य है या असत्य' इस प्रकार का संदेह उत्पन्न होना
ोह का प्रताप है। अनभिग्रहीत मिथ्यात्व ऐसा होता है कि वह जीव
ो मालूम नहीं होने देता। मगर ज्ञानी जन कहते हैं कि यह मोह
ा ही प्रताप है। बार-बार पूछताछ करने से कांक्षामोहनीय कर्म नष्ट
ाता है और 'यह तत्त्व ऐसा ही है' या 'यह बात ऐसी ही है' इस
कार की दृढ़ता उत्पन्न होती है।

किसी बात का निश्चय न होने से अत्यन्त हानि होती है
ौर निश्चय हो जाने से अतीव लाभ होता है। मान लीजिए, कुछ
नुष्य जंगल में जा रहे हैं। उन्होंने वहाँ सीप का टुकड़ा देखा। एक
समझा—यह चांदी है। तब दूसरे ने कहा—जंगल में चांदी कहाँ
आई? वह सीप होनी चाहिए। इस प्रकार दोनों के अक्षरों में
ौर अर्थ में भेद पड़ गया। बात संदिग्ध ही बनी रही। वह वास्तव
चांदी है या सीप; ऐसा निर्णय नहीं हुआ। निर्णय न होने से वे
ोनों संदेह में रहे। अगर दूसरा कोई उनसे पूछेगा कि वहाँ चाँदी
या सीप? तो वे निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कह सकेंगे।
न्होंने निश्चय कर लिया होता तो वे स्वयं संदेह में न रहते और
ूसरों को भी संदेह में न डालते!

बार-बार प्रश्न करना चाहिए और हृदय की शंका का समाधान कर लेना चाहिए। इस तरह विचारविनिमय या शास्त्रचर्चा करके हृदय की शंका का समाधान कर लिया जाय तो कहा जा सकता है कि इसने प्रतिपृच्छना की है। अगर ऐसा न किया जाय तो यही कहा जायगा कि या तो पूछने वाले के पूछने में अथवा बताने वाले के बताने में कोई त्रुटि है या दोनों की समझ में कोई कमी है। मान-लीजिए, एक वैद्य ने किसी रोगी को दवा दी। फिर भी रोग दूर न हुआ तो यही कहा जायगा कि या तो दवा देने वाले में कोई त्रुटि है या दवा लेने वाले ने दवा का भलीभाँति सेवन नहीं किया, अथवा दी हुई दवा ही ठीक नहीं है। इसी प्रकार प्रतिपृच्छना का फल शंका-कांक्षा से निवृत्त होना है। अगर शंका दूर हो गई तो समझना चाहिए कि प्रतिपृच्छना ठीक की गई है।

आत्मा महान् है। कर्मरहित होने से ही आत्मा परमात्मा बनेगा। इसलिए आत्मा को शंकाशील न बनाते हुए, पूछताछ करके निःशंक बनना चाहिए। जिज्ञासा करके शंका का समाधान कर लेना कोई बुराई नहीं है, परन्तु केवल कुतूहलवृत्ति से शंकाएँ करके अपने आपको शंकाशील बनाना अच्छा नहीं है।

जिज्ञासापूर्वक शंका करना एक प्रकार से अच्छा ही है और कुतूहलवृत्ति से संशय करना ठीक नहीं। कहा भी है—

'संशयात्मा विनश्यति।'

अर्थात् संशयात्मा पुरुष 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' की तरह विनाश का पात्र बनता है। शास्त्र में अनेक स्थलों पर गौतम स्वामी के लिए 'जायसंसए' कहा गया है अर्थात् गौतम

ी प्रकार अपने से अधिक ज्ञानी के कथन पर विश्वास किया ही
ाता है। वस्तु के परीक्षक सब लोग नहीं होते, थोड़े ही होते हैं।
न्तु जो लोग वस्तु के परीक्षक नहीं है वे परीक्षक के कथन पर
श्वास रखकर ही वस्तु ग्रहण करते हैं। रत्न के परीक्षक सब नही
ते मगर रत्न का संग्रह कौन नहीं करना चाहता? सभी लोग रत्नों
। संग्रह करना चाहते हैं, परन्तु स्वयं परीक्षक न होने के कारण
नपरीक्षक के कथन पर ही उन्हें विश्वास रखना पड़ता है।

जब सभी कार्यों में अपने से विशेष जानकार के कथन पर
श्वास किया जाता है तब धर्म की बात पर भी विश्वास क्यो न
या जाय? धर्म की बात में भी अपने से विशेष ज्ञानी के कथन
: विश्वास रखने की आवश्यकता है। मगर धर्म के विषय में प्रायः
ा होता है कि शंका होने पर पूछताछ नहीं की जाती और हृदय
शंका को स्थान दिया जाता है। कुछ लोगों का यहाँ तक कहना
कि अपने सामने जो भी कुछ आवे, खा जाना चाहिए। इस प्रकार
े भाले विना पशु की तरह किसी भी वस्तु को डकार जाना उचित
ी है। खाने में कभी कोई अयोग्य वस्तु आजाय तो कितनी अधिक
नि होने की संभावना हो सकती है? इसी प्रकार चाहे जो बात
ना सोचे विचारे मान बैठना भी अनुचित है। किसी से पूछे ताछे
ना चाहे जिसे साधु मान लेना भी हानिकर है। अगर कोई नया
धु आवे तो उससे पूछना चाहिए कि आप कौन हैं? कहाँ से आये
? आपका आचार क्या है? और आपका उद्देश्य क्या है? जैन-
ास्त्र प्रेरणा करते हैं कि किसी भी बात को विना विचारे नहीं मान
ा चाहिए बल्कि पूछताछ के पश्चात् उचित प्रतीत होने पर ही
नना चाहिए।

प्रतिपृच्छना का अर्थ सदा शंकाशील ही बना रहना नहीं
बल्कि जो शंका उत्पन्न हुई हो उसका समाधान करने के लिए



चिम्मनसिंह लोढ़ा के प्रबन्ध से श्री महावीर प्रेस ब्यावर में।

स्वामी को संदेह उत्पन्न हुआ, यह बतलाया गया है। ऐसी स्थिति में संशय होना अच्छा है या बुरा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शंका को शंका के रूप में ही रखना तो दोष है, लेकिन उसका समाधान कर लेना गुण है। जानकारी प्राप्त करने के लिए शंका करना छद्मस्थ के लिए आवश्यक है। शंका किये बिना अधिक ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। जिज्ञासा ज्ञानोपार्जन का एक उपाय है। आज विज्ञान का जो आधिपत्य दिखाई देता है, उसका आविष्कार शंका-जिज्ञासा से ही हुआ है। अलबत्ता व्यर्थ की शकाएँ करना और सदा शंकाशील बने रहना ठीक नहीं। इससे लाभ के बदले हानि ही होती है। अतएव हृदय में जो शंका उत्पन्न हो उसे प्रश्न करके या शास्त्रचर्चा करके निवारण कर लेना चाहिए। इस प्रकार प्रतिपृच्छना या शास्त्रचर्चा करने से हृदय की शंकाओं का समाधान होता है और आत्मा निःशंक बनता है। आत्मा जब निःशंक बनता है तभी उसका कल्याण होता है।
